नया–ज्ञानोदय विवाद

युवा विरोध का नया वरक

जिस दौर में टीआरपी बढ़ाने के लिए किए जाने वाले स्टिंग ऑपरेशनों पर शक की उंगलियां उठने लगी हैं, उस दौर में प्रतिष्ठित पत्रिका नया ज्ञानोदय के संपादक ने इसके युवा विशेषांक को टीआरपी की होड़ में झोंक दिया। वे इस बात से गाफिल रहे कि साहित्य के पाठकों को टीआरपी की असलियत समझने में दिक्कत नहीं होती हैं। साहित्य को सनसनी बनाने की इस कुंठित कोशिश के खिलाफ नई पीढ़ी के एक हिस्से ने जबर्दस्त मोर्चा लिया, अब वह इतिहास में दर्ज हो चुका है। यों भी अपने वक्त के हर उतार–चढ़ावों को दर्ज करना एक सभ्य समाज की जवाबदेही होती है। कई मोर्चों पर लड़ी गई इस लड़ाई को एक जगह पेश करने की एक ईमानदार कोशिश।

लोक दायरा
साहित्य–6

प्रकाशन :
लोक दायरा,
389, न्यू पुनाईचक, शास्त्रीनगर, पटना–800023
फोन : 0612-2284107, 09431221073

सहयोग राशि
15/– रुपये

कृष्ण कल्पित, कर्मेन्दु शिशिर, कुमार मुकुल, स्वतंत्र मिश्र, फजल इमाम मल्लिक, संजीव ठाकुर, किशन कालजयी, ज्ञानरंजन, मनोज शर्मा, शिरीश कुमार मौर्य, अग्निशेखर, महेन्द्र राजा जैन, देवेन्द्र आर्य, निरंजन श्रोत्रिय, राजेश जोशी, अच्युतानन्द मिश्र, मोहन किशोर दीवान, नासिरा शर्मा, कृष्णा सोबती, दिलीप चित्रे, नीलाभ, अशोक वाजपेयी, मधुरेश

भूरी–भूरी खाक धूल...

– कृष्ण कल्पित

हिन्दी के साहित्यिक हलकों में इन दिनों भारतीय ज्ञानपीठ की 'भूरी–भूरी खाक धूल' उड़ रही है। कारण है भारतीय ज्ञानपीठ की साहित्यिक पत्रिका **'नया ज्ञानोदय'** की सम्पादन शैली। भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना जिन पवित्र उद्देश्यों से की गई थी – भारतीय भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ कृति को सम्मानित करना – वह तो पिछले कुछ दशकों से निर्बाध चल रहा है और यह कहने में किसी को गुरेज नहीं होना चाहिए कि भारतीय ज्ञानपीठ ने भारतीय भाषाओं के बीच प्रतिष्ठा अर्जित की है और भारतीय ज्ञानपीठ आज भारत का सर्वाधिक प्रतिष्ठित साहित्यिक पुरस्कार है। लेकिन भारतीय ज्ञानपीठ से पिछले तीन चार दशकों से कभी रुककर, कभी थककर निकलने वाली पत्रिका **'ज्ञानोदय'** अब **('नया ज्ञानोदय')** की वैसी प्रतिष्ठा कभी नहीं रही – जैसी प्रतिष्ठा **'कल्पना'**, **'लहर'** और अब **'पहल'** को हासिल है।

कभी शरद देवड़ा 'ज्ञानोदय' के सम्पादक थे। फिर रमेश बक्षी। 'नया ज्ञानोदय' के पहले सम्पादक डा.प्रभाकर श्रोत्रिय और अब कथाकार रवीन्द्र कालिया। इनमें से कोई भी बड़ी साहित्यिक प्रतिभा नहीं है। 'पत्थर के लैम्पपोस्ट' वाले प्रयोगधर्मी कथाकार शरद देवड़ा विस्मृत कर दिए गए जाकर जयपुर में रह रहे हैं। रमेश बक्षी का 'आवेश' कभी का ठण्डा पड़ चुका था – अब तो वे दुनिया में भी नहीं हैं। प्रभाकर श्रोत्रिय भारतीय ज्ञानपीठ से हटा दिए जाकर आलोचना की तीसरी, चौथी, पांचवीं या तेरहवीं परंपरा में अपने लिए जगह तलाश रहे हैं। अभी के संपादक रवीन्द्र कालिया की ख्याति अपरम्पार है – वे दूसरे दरजे के उम्दा कथाकार रहे हैं (दूधनाथ, काशी और ज्ञानरंजन की तुलना में)। कालिया भी विस्मृति की 'गंगा–जमुना' में डूब ही जाना चाहते थे कि 'गालिब छुटी शराब' के सच्चे–झूठे संस्मरणों ने इन्हें बचा लिया। हिन्दी की धूल–धक्कड़ और ऊब में डूबी हुई दुनिया को कालिया के 'पंजाबी नरेटर' ने बचा लिया।

कालिया **धर्मयुग** में उप–संपादक रहे इलाहाबाद में प्रेस चलाया बरसों तक वे संजय सिंह का 'घण्टा' बने रहे। विचार–विचारधारा–सामाजिकता–प्रतिबद्धता आदि से कालिया का कोई रिश्ता नहीं रहा। बीच में बरसों तक उत्तर आधुनिक चाणक्य डी. पी.टी ने कालिया को वैचारिक 'लेजिटिमेसी' दी। कालिया के प्रचीन मित्र नीलाभ के

संस्मरणों से हमें पता चलता है कि इलाहाबाद जैसे धीमे–मंथर शहर ने इस पंजाबी की हरकतें पूरे चालीस बरसों तक हैरान होकर देखी हैं।

इस चकमक रौशनी में रवीन्द्र कालिया को भारतीय भाषा परिषद के मारवाड़ी कार्यकर्ता ले गये। कालिया पहली बार **'वागर्थ'** के पूरे सम्पादक बने। जिस 'धर्मयुग' में कालिया की पत्रकारिता का बपतिस्मा हुआ था–उस पत्रकारिता को हिन्दी जाति की स्मृति में पतनशील पत्रकारिता के रूप में ही जाना जाएगा–आवेग से चालित–लोकप्रिय। जिस तरह की सनसनीखेज, गैरजिम्मेदार, उठाने–गिरानेवाली, गुर बतानेवाली, अगंभीर, साहित्यिक पत्रकारिता 'वागर्थ' से शुरू की– ताजा ज्ञानोदय विवाद उसी सम्पादन शैली की परिणति है।

'युवा विशेषांकों' की अगंभीर सम्पादन शैली से उपजा विवाद अभी थमा भी नहीं है कि कृष्णा सोबती के शब्दों में नासिरा शर्मा पर हाथ डालने के एक नए विवाद में रवीन्द्र कालिया फंस गए हैं। पहले युवा विवाद। कालिया ने इसे एक फार्मूला बना लिया है। इतिहास बताता है कि ऐसे विशेषांकों से साहित्यकार का भला नहीं हुआ। आप पन्द्रह कथाकार और पन्द्रह कवियों को चुनकर हिन्दी के दूर–दराज के अंचलों में चल रही युवा रचनात्मकता का अपमान करते दिखाई पड़ते हैं। फिर उनका मूल्यांकन। यह साहित्यिक पत्रकारिता में कभी नहीं हुआ कि वह सिर्फ उसी पत्रिका में छपी रचनाओं पर विचार करे और उसे हिन्दी की युवा कहानी और युवा कविता कहा जाए। यद्यपि 'नया ज्ञानोदय' के युवा विशेषांकों में शशिभूषण द्विवेदी की कहानी–कुमार मुकुल, कुमार वीरेन्द्र आदि की बहुत सी महत्वपूर्ण रचनाएं प्रकाशित हैं'– किसी सही रचना की जगह उस भाषा की मुख्यधारा होती है– उसे वहीं प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए। रेणु कभी युवा लेखक नहीं रहे न रघुवीर सहाय कभी युवा कवि।

विजय कुमार ने आज–इधर की युवा कविता पर एक बातचीत की शक्ल में दिलचस्प लेख लिखा। इस लेख में विजय कुमार की निराशा दिखाई पड़ रही थी। कुछ युवा कवियों ने विजय कुमार पर हल्ला बोल दिया। परमानन्द श्रीवास्तव की तरह अपनी आलोचना के ब्याज पर कविता लिखने वाले विजय कुमार इस अचानक के हमले से घबरा गए और इसका जिम्मेदार रवीन्द्र कालिया को बताया–जिनकी ख्याति अपनी ही पत्रिका में छपे विचारों की खिल्ली अपने सम्पादकीय में उड़ानेवाले सम्पादक की हो गयी है।

इस युवा विशेषांक में युवा कथाकारों का परिचय जिस फिल्मी शैली में दिया गया– जैसा कि कुमार मुकुल कहते हैं – कालिया के उस सम्पादन शैली का दिल्ली में साहित्य संस्कृति से जुड़े युवा रचनाकारों ने प्रतिकार किया और हस्तक्षेप कर अपना सच्चा विरोध प्रकट किया।

इस दौरान साहित्यिक समाज अनेक अफवाहों से घिर गया। साहित्यिक विवाद ने माहौल को उत्तेजना से भर दिया। लेकिन इस पूरे साहित्यिक विवाद में कुछ युवा रचनाकारों का जो रूप और संवेदना प्रकट हुई–वह सचमुच महत्वाकांक्षाओं के अंधेरे से भरी हुई थी। यह लड़ाई सड़कों पर लड़ी गयी– एसएमएस के जरिए, लेखों के जरिए, ब्लॉग के जरिए, परचों के जरिएं।

'नया ज्ञानोदय' और रवीन्द्र कालिया की सनसनीखेज साहित्यिक पत्रकारिता का विरोध बहुत से युवा कवियों, लेखकों–पत्रकारों ने अपने–अपने ढंग से–अपनी अपनी अभिव्यक्ति से किया। इस झगड़े को दबाने की कोशिश की गई। लेकिन यह सच्चा प्रतिरोध था– इसलिए इसने इस कुलीन साहित्यिक समय में अपनी जगह बनाई।

दरअसल कालिया की संपादन कला और हठधर्मिता के विरूद्ध रचनाकारों के असंतोष ने अखिल भारतीय स्वरूप ग्रहण कर लिया। कुछ ने इसमें सक्रिय भागीदारी की–आपसी विचार विमर्श किया और बहुत से ऐसे भी थे, जो दूर से तमाशा देखते रहे। कर्मेंदु शिशिर, विजय कुमार, कुमार मुकुल, शिरीष कुमार मौर्य, स्वतंत्र मिश्र, अच्युतानंद मिश्र, किशन कालजयी, मनोज शर्मा आदि ने विभिन्न माध्यमों के जरिए अपनी बात कहने की कोशिश की। उसमें अधिकांश सामग्री इस पुस्तिका में संग्रहीत की गई है। सार्थक साहित्यिक विवाद रचनात्मक वातावरण को बनाए रखने के लिए जरूरी है– यह भारतेन्दु काल से अब तक जारी है।

हिन्दी के बड़े घराने, पत्र–पत्रिकाएं, अखबार, चैनल, बड़े संपादक आदि सब मिलकर जिस कुलीन दुनिया को बनाते हैं– हिन्दी के श्रमिकों की दुनिया उसे नकारती है– लहूलुहान होती है। 'नया ज्ञानोदय विवाद' इसी प्रतिरोध की नयी कड़ी है।

यह पूरी सामग्री अब एक पुस्तिका के रूप में इसलिए प्रकाशित की जा रही है– कि समय बीतने पर इस अद्भुत साहित्यिक जीवंत विवाद पर धूल न पड़ जाए। यह ऐसा दस्तावेज बने जो शायद हमें बताए कि हिन्दी में प्रतिरोध की धारा ही सच्ची जातीय धारा रही है। वह किसी काल में धीमी जरूर हो जा सकती है– लेकिन पूरी तरह सूखती नहीं है।

इस सामग्री में हिन्दी के अद्भुत लेखक कर्मेन्दु शिशिर का वह विवादास्पद साक्षात्कार भी है जो **'मोहल्ला'** ब्लॉग ने जारी किया। कर्मेन्दु ने अपने इस साक्षात्कार में अपना आक्रोश व्यक्त किया है– और वह सच्चा है। कर्मेन्दु शिशिर को 'साहित्य के बाहर कर देने वाले' फतवे जारी करने वाले आलोचकों और मूर्धन्यों को अब **'जनसत्ता'** में सोची समझी रणनीति के तहत उठाए गए नासिरा शर्मा विवाद पर

आंख मूंदनी पड़ रही है। पुस्तिका में ज्ञानरंजन का वह प्रतिरोधी पत्र भी है जो **'कारवां'** ब्लॉग पर जारी हुआ है। अगर रवीन्द्र कालिया की सनसनीखेज, साहित्यिक पत्रकारिता का विरोध किया जा सकता है तो हम ऐसी चरित्रहनन करने वाली, किसी को घेरकर मारनेवाली–साहित्यिक पत्रकारिता का भी विरोध करते हैं–जिनकी घड़ियां हमेशा सत्ता की सुइयों से मिली होती हैं। इस पुस्तिका में हमें युवा रचनाशीलता की एक बानगी भी दिखाई पड़ती है–और इस बात की आश्वस्ति भी दिखाई पड़ती है कि हिन्दी में पतिरोध की प्राचीन परम्परा का यह एक नया वरक़ है। इस पुस्तिका को एक साहित्यिक विवाद की तरह ही पढ़ा जाए–ताकि सनद रहे। इसका पाठ ही इसका विमर्श है। साहित्यिक विवादों से ही 'साहित्य विवेक' का निर्माण होता है– इसका हमें भान है।

गरिमा पर गाज

भारतीय ज्ञानपीठ के प्रबन्ध न्यासी श्री अखिलेश जैन को श्री कर्मेन्दु शिशिर का खुला पत्र

सम्मान में,

साहू अखिलेश जैन,
प्रबंध संपादक 'नया ज्ञानोदय' एवं प्रबंध न्यासी.
भारतीय ज्ञानपीठ,
18 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड,
पोस्ट बॉक्स नं – 3113, नयी दिल्ली–110003

मान्यवर!
अभिवादन।

मुझे बहुत खुशी होती, अगर यह पत्र किसी प्रीतिकर प्रसंग में लिखता। यह पत्र लिखते हुए, मुझे दुख हो रहा है और पीड़ा भी। मुझे इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि आप इसे गंभीरता से लेंगे या अपने पास पडी रद्दी की टोकरी में डालेंगे। मैंने जो महसूस किया, उसे लिखना मेरी आंतरिक विवशता थी – सो लिखा। अब आपकी नैतिकता और आपका विवेक, वह आप जानें।

आपकी संस्था स्वर्गीया रमा जैन जी द्वारा दिये कुछ मूल्यों पर स्थापित है, जिसकी

गरिमापूर्ण परंपरा रही है। कम–से–कम आपकी संस्था की ओर से ऐसा कुछ नहीं होना चाहिए, जिससे वह कलंकित हो। इसमें संदेह नहीं कि आपने अपनी उपस्थिति से इसे पुनर्जाग्रत् किया। आपने पुरानी गरिमा की वापसी के लिए जो–जो उपक्रम किये, उसे व्यापक रूप से सराहना भी मिली। इसमें 'नया ज्ञानोदय' का प्रकाशन एक बड़ी पहल थी। इसके साथ हिन्दी के व्यापक प्रबुद्धजनों से आपका संवाद, संबंध और सरोकार बना और रचनात्मक सक्रियता बढ़ी। यह अत्यंत खेद की बात है कि अब आपकी संस्था इसे तेजी से खो रही है। ऐसी बातों पर तत्काल गौर करना श्रेयस्कर होगा।

आप 'नया ज्ञानोदय' (अंक–51, मई 2007) के संपादकीय की इन पंक्तियों को ध्यान से पढ़ें– "पिछलग्गुओं की फौज आज नहीं तैयार हो रही, वह रेजिमेंट पहले से मौजूद थी। उसकी शिनाख्त करनी हो, तो हाल ही में वाराणसी में आयोजित उस कार्यक्रम का अध्ययन किया जा सकता है, जिसके विजय कुमार खुद चश्मदीद गवाह थे। युवा पीढ़ी के स्थानीय रचनाकारों के अलावा वहां किस पीढ़ी की फौज थी, यह किसी से छिपा नहीं।"

साहित्य अकादमी से सम्मानित कवि ज्ञानेन्द्रपति के 'पहल सम्मान' समारोह के प्रसंग में यह बात कही जा रही है। इसमें मैं भी शामिल था और लगभग डेढ़–दो सौ लेखक, कवि, विचारक और बुद्धिजीवी पूरे देश से अपने खर्चे से आये थे। संपादकीय में तमाम सहभागियों के प्रति ऐसा अशालीन भाव और सोच भरी टिप्पणी लिखना कहीं से शोभन नहीं लगता। साहित्य मूलतः सोच, संवेदन और संस्कार से जुड़ा होता है। जाहिर है, कोई भी सुबुद्ध व्यक्ति इसे गरिमापूर्ण तो नहीं ही कहेगा। 'स्थानीय रचनाकारों के अलावा'–दिल्ली के बाहर रहने वाले हिन्दी लेखक स्थानीय ही होते हैं। यह तो आपका सौजन्य है कि आपने अपने संपादक को बाहर से लाकर दिल्ली में बसा दिया और वे अखिल भारतीय हो गये। आगे लिखा है–'अध्ययन किया जा सकता है'–यह संपादकीय गद्य का कहीं से बेहतर नमूना नहीं है। समारोह में शामिल होने के कारण ऐसी टिप्पणी से मैंने खुद को अपमानित महसूस किया और मुझे गहरी पीड़ा हुई। उम्र की इस दहलीज पर ऐसा विचलन तो किसी सभ्य नागरिक को भी शोभा नहीं देता, आपके संपादक तो वरिष्ठ कथाकार रह चुके हैं। कम–से–कम संपादक से न्यूनतम गरिमा की बुनियादी अपेक्षा तो हम कर ही सकते हैं!

दूसरा प्रसंग साहित्यिक राजनीति से जुड़ा है। सच पूछिये तो ऐसी स्तरहीनता की उम्मीद हम स्वप्न में भी नहीं कर सकते थे। इस आसंग में मैं अपनी गहरी आपत्ति दर्ज करना चाहूंगा, क्योंकि यह कृत्य घोर अनैतिक है। सबसे अधिक चकित करने वाली बात इसमें संपादक की भूमिका और उनकी समझ है–जो चिंत्य है। आप खुद देखें और विचार करें। आपके संपादक बार–बार आग्रह करके विजय कुमार से समकालीन कविता पर लेख लिखवाते हैं। जब लेख आ जाता है, तो उसे

बिना गंभीरता से पढ़े और बिना समझे टिप्पणी जड़ देते हैं। ऐसी टिप्पणी, जिसमें वे 'तटस्थता' की बुनियादी संपादकीय नैतिकता छोड़ कर अपनी मुखर पक्षधरता प्रकट कर देते हैं। साथ ही इसके पक्ष मे वे एक और गंभीर संपादकीय 'पाप' यह कर जाते हैं कि अपने विपरीत पड़ते लेख से दो अंशों को हटा देते हैं। अगर ऐसा ही था तो पक्षधरता के साथ–साथ संपादकीय दक्षता का परिचय देते हुए, वे लेखक की गरिमा का भी ख्याल रख सकते थे। बस, संपादकीय कौशल की जरूरत थी। फिर, विजय कुमार समकालीनों में कोई साधारण हैसियत वाले भी नहीं हैं। हिन्दी में उनका योगदान इतना बहुस्तरीय है कि समकालीनों में दस नाम लिये जायें, तो वे उसमें अनिवार्यतः शामिल किये जायेंगे। वैसे योगदान और समझ के आधार पर लेखकों के प्रति सलूक करने की तमीज तो हम बहुत सारे लोगों में नहीं पाते, तो इसके लिये आपके संपादक को हम 'ब्लेम' नहीं करेंगे। लेकिन उन्होंने जिन ज्ञात–अज्ञात कारणों से यह सब किया, वह बेहद निंदनीय है।

आपके संपादक ने विजय कुमार के स्वीकृत लेख को तमाम संपादकीय नैतिकताओं को तिलांजलि देकर छपने से पूर्व ही, दिल्ली के तलछटवासी पंक–प्रेमियों में वितरित कर दिया। यह तो पूरा देश जानता है कि दिल्ली की दुर्गंध पूरे देश में कितनी तेज फैलती है! तुरंत देशव्यापी संचार संपर्कों के द्वारा उलीच दी गई कुत्सा पूरी हिन्दी में पसर गई। जब मेरे जैसे नामालूम के पास भी फोन आने लगे, तो मानना चाहिये कि हिन्दी के सुख्यातों तक यह सब बात प्रमुखता से पहुंचायी गई होगी। विजय कुमार को लेख छपने के पूर्व ही फोन कर–करके अकारण मानसिक यातना पहुंचायी जाने लगी। उन्होंने यह बात भी बतायी कि यह सब करने वालों में सबसे अधिक पहल खुद संपादक ने ही की। यह संपादकीय पतन की प्रकाष्ठा है। लेख छपने के बाद फिर महीने भर मानसिक प्रताड़ना का सिलसिला चला। मेरी बुद्धि थोड़ी मंद है, इसलिये उस लेख में ऐसी कोई बात नहीं लगी, जो लेख को एकपक्षीय बनाती हो। उसमें ऐसे गंभीर दृष्टि–बिंदु थे, जिस पर रचनात्मक बहस आगे बढ़ाई जा सकती थी। लेकिन आपके सनसनी पसंद संपादक को भला गंभीर विमर्श से क्या लेना–देना। सो महीने भर एकपक्षीय वाक् आक्रमण हुए कि आने वाले अंक में मिसाइल पत्र दागे गये हैं। हिन्दी हैरान और संपादक प्रसन्न कि सनसनी हिट हो रही है। हमलोग हाशिये के मामूली जीव–जंतु तुरंत उत्सुक अधीर हो जाते हैं। सो, अगले अंक की बिना प्रतीक्षा किये इंटरनेट से बहस की चारों टिप्पणियां उपलब्ध कर लीं।

विजय कुमार के प्रतिपक्ष में छपी तीनों टिप्पणियां क्रमशः प्रबुद्ध, प्रतिभावान और चर्चित कवि की थी, जो सौभाग्य से हमारे निजी और आत्मीय हैं। कृष्णमोहन जी प्रबुद्ध हैं, वे बड़े विश्वास और साहस से अपनी बातें रखते हैं। ज्यादा उलझाव

और लाग–लपेट उन्हें पसंद नहीं। उनके स्वभाव और लेखन में कुछ–कुछ ठेठ जातीय रंग है । रवीन्द्र थोड़े मस्त, मनमौजी तबियत के प्यारे कवि हैं। इन दोनों से मैंने बात की, उनके आग्रहों और आरोपों को समझने की कोशिश भी। हरेप्रकाश तो पारिवारिक ही हैं, लेकिन प्रयत्न के बावजूद बात न हो सकी। चौथा लेख विजय कुमार का है, जो संपादक के कई अदीठ कृत्यों पर नई रोशनी डाल रहा है। पहले आप इस पूरी 'बहस' (अंक 52) पर संपादकीय टिप्पणी देखें–'सबसे ज्यादा पत्र और फोन कॉल्स हमें 'आज का कविता समय' पर लिखे गये विजय कुमार के आलेख पर मिले।'

अगर 'सबसे ज्यादा पत्र' इस लेख पर आये थे, तो संपादक ने उन्हीं तीन पत्रों का चयन क्यों किया, जो उसके मई अंक में व्यक्त पक्षधरता के अनुकूल थे? 'सबसे ज्यादा पत्र' का स्वर क्या एकपक्षीय था? अगर ऐसा था तो निश्चय ही विजय कुमार का लेख युवा पीढ़ी के विरूद्ध घोर डैमेजिंग था, फिर उसे युवा पीढ़ी विशेषांक में छापने का क्या औचित्य था? यह तो एक तरह से संपादकीय पंगुता हुई। 'अगर सबसे ज्यादा पत्र' के स्वर में वैविध्य था, तो दूसरे स्वरों को दरकिनार कर क्या संपादक ने अपनी तानाशाही और घनघोर व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का नग्न प्रदर्शन नहीं किया? अगर वाकई संपादक के पास सृजनात्मक सोच–समझ और बुनियादी नैतिकता होती, तो वे इसी लेख के अर्थवान, जीवंत और विचारोत्तेजक बिंदुओं को अपने संपादकीय में संकेतों से रेखांकित कर सकते थे। इससे बहस–विमर्श चिंत्य, अशोभन और कुरूपता से अलग, अपेक्षित मुद्दों पर एकाग्र हो जाता। विजय कुमार के लेख में ऐसे कई बिंदु थे, जो मुझ जैसे कम समझ वालों को भी सूझ रहे थे। जैसे–रचना विरोधी परिवेश में सृजन का संकट, विभिन्न स्तरों पर हुए विस्थापन के विविध आयाम, गलाकाट प्रतिद्वंद्विता में अस्तित्व के लिये जीवन मूल्यों का संकट, विशाल हिन्दी प्रदेश की विभिन्न जनपदीयताओं की अपनी विशिष्टताएं, सांस्कृतिक पहचान, रूप, रंग, गंध, स्वाद और स्वरों का वैविध्य–सहित कई बातें थी, जो विमर्श को विचारोत्तेजक और गंभीर बना सकती थीं। अगर वाकई संपादक के पास समकालीन कविता की कोई समझ थी, तो उन्हें अपनी कूव्वत छुपानी नहीं चाहिये थी। वे अपना दम दिखाते और संपादकीय में एक पंक्ति भी ऐसी जोड़ पाते कि कैसे नयी पीढ़ी की कविता, अपने पूर्ववर्तियों से अलग होती है– तो हम उनके कृतज्ञ होते। नयी पीढ़ी नयी पीढ़ी नयी पीढ़ी – का कनस्तर पीटने से न तो कविता का कुछ भला होने वाला है और न ही इस तरह कोई पीढ़ी स्थापित होती है। समय और समाज के साथ सघन सरोकार, गंभीर अध्ययन और निरंतर रचनात्मक अभ्यास के साथ गंभीर विचार–विश्लेषण से ही पीढ़ियां स्थापित होती आयी हैं और आगे भी इसी तरह से होंगी। 60 वर्ष के बाद तो नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल के कायदे

से संकलन छपे और वे लोग चर्चा में आये। 20 वर्षों के अंतराल के बाद केदारनाथ सिंह का दूसरा संकलन आया था। स्थापित होने की अधीरता कहां थी इन लोगों में? न ही वे विमर्शों में इतने उत्तेजित और उद्धत हुए कभी! नयी पीढ़ी को भी यह बात समझनी चाहिये कि समझहीनों की पक्षधरता और आक्रामक सनसनी उनके किसी काम की नहीं। यह बहुत खेद की बात है कि आपके संपादक ने एक बौद्विक संपन्न, अर्थवान और विचारोत्तेजक बन सकने वाली बहस की संभावना के विपरीत पूरे साहित्यिक पर्यावरण को ही बुरी तरह प्रदूषित किया। आप संपादक की मंशा देखिये सिर्फ शीर्षक में। हरेप्रकाश की टिप्पणी के शीर्षक पर गौर कीजिये–'हम सब बूझते हैं विजय कुमार। हरेप्रकाश का ऐसा दुःसाहस न उचित है, न शोभनीय। यह चिंतनीय बात है। यह सामान्य बात थी कि अगर संपादक की नीयत साफ होती. तो आपकी पत्रिका दिल्ली से निकलती है जहां दिग्गजों की कमी नहीं थी। अगर चाहते तो किसी एक गंभीर नाम से आग्रह कर बहस को आगे बढ़ा सकते थे। इसके उलट तलछटवासियों की कानाफुसकी में यह बात हवा में फैलायी जा रही थी कि निरंजन श्रोत्रिय की कविता फासिस्ट कविता है – जिसकी चर्चा विजय कुमार ने की है। विजय कुमार ने तो उनकी कविता का संक्षिप्त विश्लेषण युवा पीढ़ी की ओर से 'उदाहरण' के रूप में किया था, जिसे चूक से या अपनी त्वरा में हरेप्रकाश ने 'एक मात्र' मानकर, अपने दौर के सबसे पढ़े–लिखे विजय कुमार की ऐसी–तैसी कर डाली। रौ में आकर नयी पीढ़ी से असंबद्ध विजय जी की कुछ बातों को वे अपने ऊपर लेकर उग्र प्रतिपक्षी की मुद्रा में हुंकार भरने लगे। हम तो उनकी बहुत सारी बातों को युवकोचित मानकर अनदेखी करेंगे और यह कामना करेंगे कि उनकी प्रतिभा सकारात्मक तरीके से रचनात्मक स्तर पर ही एकाग्र हो, लेकिन आपके संपादक की यह आश्चर्यजनक चूक थी कि उन्हें यह सब नहीं सूझा। यह नयी पीढ़ी को संवारने और स्थापित करने वाला कौन–सा संपादकीय विवेक है? यह मेरी समझ में नहीं आया।

निरंजन श्रोत्रिय की कविता विजय कुमार के विश्लेषण से अच्छी नहीं हुई है,न ही किसी के कहने के भरोसे कोई रचना अच्छी या बुरी होती है। हरिशंकर परसाई परिहास में कहा करते थे कि अगर मेरे कहने से कोई रचनाकार बड़ा हो जाता है, तो मैं उदारतापूर्वक सर्टिफिकेट देने को तैयार हूं। निरंजन की कविता अपनी अंदरूनी मार्मिकता से अच्छी हुई है, जो हमारी चेतना को झकझोरती है और हमें गहरे व्यथित करती है। एक गहरे अवसाद के बावजूद जीवन और सामाजिक सहभागिता के प्रति सहज मानवीय आस्था को मजबूत करती है। निरंजन एक छोटा कवि हो सकता है, लेकिन उसकी यह कविता एक अच्छी कविता है। 'पहल' जैसी पत्रिका में तीन–चार अंक पूर्व छपने के बावजूद यह कविता हिन्दी में अदीठ रह गई। जब से यह कविता

में संगीत' जैसे स्थूल पक्ष में फासिस्ट आधार ढूंढ रहे हैं। अगर कविता की ऐसी ही स्थूल समझ है, तो उसे व्यक्त करने वाले साहसियों में किसी एक को भी सामने आना चाहिये था। लेकिन ये चतुर सुजान और बेहद शातिर लोग हैं, इतने कच्चे भी नहीं, जो ऐसी बेवकूफी कर अपनी समझ की भद पिटा लेते। इस कविता को निर्दोष मन से बार–बार पढ़ा जाय और अंत में पूरी कविता को समझने की एक ईमानदार कोशिश की जाय, तो संभव है कविता का अदीठ गवाक्ष दिख जाय। कविता के अंत में संगीत की चलती हुई जुगलबंदी अपने चरमोत्कर्ष में एकत्व तक पहुंचकर एकाएक टूट जाती है। किस तरह इस टूटन की झंकृति पूरी कविता की सांगीतिक लय को मार्मिक अवसाद में बदल देती है। किस तरह फासिस्ट एक अद्भुत जुगलबंदी की सांगीतिक सिंफनी को छिन्न–भिन्न कर, सब कुछ ध्वंस कर देते हैं, कुछ इस तरह का मर्म इस कविता में दीप्त हुआ है। वैसे भी दिल्ली दिमाग वालों का शहर है। वहां बसे अप्रवासी कवियों को वहां की रिवायतें अपनाकर कुछ दिल वाला भी बनना चाहिये, इससे कविता रचने और समझने में सहूलियत होगी। यह तो कविता और नये कवियों के लिये भी संहार वाली बात होगी, अगर कविता और कवियों की समझ और पहचान रणनीतियों और कूटनीतियों से बने। यह हिन्दी की विडंबना ही है कि हर चूक जाने वाला रचनाकार लेखन में आवृत्ति करता है अथवा लिखना छोड़ देता है, तो परिदृश्य पर खेल खेलने लगता है, संपादकी करने लगता है तथा संस्थाओं, पुरस्कारों, आयोजनों, चर्चाओं और तरह–तरह से उठापटक का खेल रच इतिहास में किसी को दर्ज कराने अथवा मिटाने की एजेंसी चलाने लगता है। मुझे तो इस खेल में बार–बार आपके 'नया ज्ञानोदय' संपादक पर तरस आता रहा कि उन्हें अंत–अंत तक यह पता नहीं चला कि वे खिलाड़ी नहीं महज एक मोहरा भर हैं।

आखिरी बात लिखते हुए शर्म से मेरा सिर झुक जाता है, जब आपके संपादक किसी रचनाकार के परिचय में यह लिखते हैं कि इनकी एक पत्नी और बहत्तर प्रेमिकाएं हैं। मुझे भय है कि अब क्या बात यहां तक जायेगी कि आपकी पत्रिका में किसी महिला रचनाकार के परिचय में हमबिस्तरों की सूची छपेगी? मैं तो हैरान रह गया। बहुत सारे लोगों ने इसे संस्कारों के पतन की पराकाष्ठा कहा।

निःसंदेह आप स्वर्गीया रमा जैन जी द्वारा स्थापित संस्कारों से ही अनुप्राणित रहे होंगे। इसलिये आपसे न्यूनतम परंपरा के सम्मान की अपेक्षा तो की ही जा सकती है। कम–से–कम उनकी दिवंगत आत्मा को आहत करने वाले ओछेपन से अपने उपक्रमों की गतिविधियों को बचाये रखें, यही उचित है । वैसे आपका प्रबंधन, आपकी मर्जी!

शुभकामना, सम्मान और क्षमा सहित

आपका कर्मेन्दु शिशिर

नया ज्ञानोदय की परिचय पच्चीसी

— कुमार मुकुल

2005 के वागर्थ के युवा पीढ़ी विशेषांक में रवींद्र कालिया ने *स्वगत* में लिखा था— 'बगैर तोड़फोड़ के किसी भी विधा का विकास संभव नहीं होता। वह (कुणाल सिंह) शब्दों से फुटबाल की तरह खेलते हुए कहानी खड़ी कर लेता है।' अब जाकर 2007 में आए नए ज्ञानोदय के मई–जून विशेषांकों में संपादन के स्तर पर घोषित तोड़फोड़ और शब्दों का खेल सामने आया है।

शब्दों के जादूगर संपादकद्वय द्वारा नवोदितों के दिए गए परिचय के नमूने देखें— *'दुबली–पतली और सुंदर कथाकार', 'अविवाहित कथाकार, बट गर्ल्स फादर मस्ट हैव हिज ओन बार', 'हर मंगलवार को मंदिर और शनिवार को हंस के कार्यालय में जाती हैं', 'बैलों की खरीदफरोख्त का अच्छा अनुभव', 'बालिवुडिय शब्दावली में कहें तो राजुला शाह स्टार घराने से हैं', 'आग्रह करने पर नहीं लिखते, धमकाने पर भी नहीं, दो कहानियां और अब तक दो बार अस्पताल की हवा खा चुके हैं। हाल में ही तीसरी बार अस्पताल से बाहर आए और यहां यह तीसरी कहानी', ' करीब आधा दर्जन प्रेम और इतनी ही कहानियां। अभी तक न कोई किताब, न ही कोई पुरस्कार (राकेश मिश्र)', 'सात–आठ कहानियां। छह–सात भाषाओं में अनुवाद। तीन–चार पुरस्कार, प्रेम संबंध एक ही और एक ही किताब। शादी अभी एक भी नहीं (कुणाल सिंह)', 'जी खोलकर हंसती हैं और धुंआधार लिखती हैं, युवा लेखिकाओं से फोन पर बात करने का चस्का। यह चित्र 10 अप्रैल की सुबह का', 'सैंतीस साल की उम्र में 'सत्ताइस साल की लड़की' लिखी, जो हिट रही', 'पेशेवर अध्यापक, प्रेमिका से ही शादी कर ली, यह कहानी संपादक के उकसाने पर लिखी', 'बहुत गुजारिश के बाद यह छोटी कहानी', ' बीवी–बच्चों के साथ ताजमहल में फोटो खिंचवा चुके हैं', ' इन दिनों ताजमहल के साये में गुजर–बसर कर रही हैं', 'पच्चीस पृष्ठीय पहली कहानी संपादकों की क्रूरता का शिकार होते–होते अब छह–सात पृष्ठ की रह गई। उम्मीद है, भविष्य में लंबी कहानी लिखने से कतराएंगे। एक ताजी सचमुच की छुटकी कहानी का इंतजार', ' कंधों से नीचे जाते खुले–लंबे सीधे बाल– गोल चेहरा– चमकती हुई आंखें– चेहरे से टपकता बौद्धिक उजास और विश्वास– सारिका (1977–78–79 का कोई अंक रहा होगा) में छपा चित्र। नाम– नासिरा शर्मा (इस अंक में नासिरा शर्मा की पांच तस्वीरें और एक स्केच छपे हैं।)', ' अंजली काजल की अंतिम कहानी। इसके बाद वे अंजली गौतम के नाम से लिखेंगी दो तीन महीने पहले ही शादी हुई और शादी के बाद यह पहली कहानी'।*

'सनातन बाबू का दाम्पत्य' कहानी में कहानी के झूठ होने की घोषणा करता कहानीकार (कुणाल सिंह) कहता है— 'क्या हम सच से उकताकर थोड़ी देर के लिए जानबूझकर झूठ नही जीने लगते? उदाहरण के लिए ' माना सूरज पश्चिम से उगता है, कितना भोला और जिंदादिल झूठ जिस पर सौ सच्चाइयां कुर्बान।'

उपर्युक्त संदर्भों में देखें तो 'विधा के विकास के नाम पर तोड़फोड़, एक झूठ पर सौ सच कुर्बान करने की कातिलाना अदा, बालिवुडीय हिट–फ्लॉप शब्दावली का घोषित तौर पर प्रयोग संपादकद्वय के निजी फितूरों को ज्यादा सार्वजनिक कर रहे हैं, युवा रचनाकारों की बावत वे कुछ खास नहीं बता पा रहे', सिवा उनकी अक्षमताएं उजागर करने के। जैसे पच्चीस पृष्ठ की कहानी को घोषित संपादकीय क्रूरता में कतर कर छह पेज का कर देने का क्या तर्क है? ऐसी कहानियों में संपादकद्वय अपना नाम जोड़ देते तो बेहतर होता, बजाय अपनी क्रूरता के उद्घाटन के। इस क्रूरता के शिकार युवा कथाकार उमाशंकर चौधरी से जब उनकी पच्चीस पेज की कहानी को कतर कर छह पेज की कर देने के बारे में मैसेज कर पूछा तो उनका एसएमएस आया— 'ये कहानी दो पेज एडिट हुई है, वो भी मेरे द्वारा, परिचय में जो लिखा गया है वो अगर मजाक है तो बहुत ही खराब मजाक है, मैं एक पत्र लिखूंगा।'

इसी तरह नासिरा जी की आधी दर्जन तस्वीरें छापने और नख–शिख वर्णन का कोई अलग मानी नहीं निकलता, सिवा सुमुखियों के प्रति अपने गुप्त अनुराग के प्राकट्य के। किसी रचनाकार की तस्वीर किस दिन और कितने बजे खींची गई यह तक बताया गया है परिचय में।

कुणाल शब्दों के फुटबालर हैं और खूब खेल किया है उन्होंने। सैकड़ों सच्चाइयां कुर्बान कर दी हैं एक–एक झूठ को स्थापित करने में। बालिवुडीय शब्दावली का प्रयोग जो आरंभ कर चुके हैं वो/तो आगे क्या युवा रचनाशीलता का जासूसी अंक या मॉडलिंग अंक निकालने की योजना है। होली पर अश्लील मसखरेबाजी से पूर्ण अंक निकालने की पुरानी सामंती परंपरा को पुनर्जीवित करने का इरादा तो नहीं।

परिचय में 'दुबली–पतली सुंदर कहानीकार' लिखकर क्या बताना चाहते हैं संपादक? इस 'नयनसुख' संपादकीय के नमूने वागर्थ 2004 के अक्टूबर अंक में भी देखे जा सकते हैं, जिसमें पाठकीय कॉलम में छपे पचास पत्रों में मात्र एक आरती झा की तस्वीर छपी है, जबकि उसी अंक में आरती की एक लघुकथा भी प्रकाशित है। तस्वीर वहां लग सकती थी, पर कृपा प्रदर्शन फिर कैसे होता! छुपाछुपी का यह

खेल वागर्थ के उस अंक में कुणाल के परिचय में भी देखा जा सकता है। लिखा है– 'एक राष्ट्रीय स्तर की साहित्यिक पत्रिका में सहायक संपादक, जबकि इसी अंक में सहायक संपादक में उनका नाम छपा है। सहायक संपादक के युवकोचित राग–द्वेष की झलक तमाम परिचयों में मिल जाती है। राकेश मिश्र के परिचय के साथ कुणाल के परिचय का मिलान करें, पता चल जाएगा। राकेश के बारे में बताया गया है कि आधी दर्जन कहानियां, पर कोई पुरस्कार नहीं। जबकि कुणाल के परिचय में राकेश को मुंह चिढ़ाते हुए लिखा गया है– सात–आठ कहानियां, तीन–चार पुरस्कार। यहां प्रेम संबंधों की गिनती और उससे उपजी कुंठा के दर्शन भी होते हैं। राकेश मिश्र के आधा दर्जन प्रेम हैं, पर कुणाल का एक प्रेम संवंध है और शादी तो बेचारे की एक भी नहीं है। लगता है शादी का ठेका देने का इरादा है।

कहानीकार कविता के पति राकेश बिहारी मिले तो उन्होंने परिचय पर आपत्ति जताते कहा– मेरी मां दुखी रहती हैं कि कैसी बहू है कि पूजा–पाठ नहीं करती। शशिभूषण के परिचय पर विस्फारित आंखों से देखतीं कवयित्री अनामिका ने कहा– यह तो चरित्र हनन है। वरिष्ठ कवि विष्णु नागर ने कहा कि पहले एक *हंस* ही चर्चा में आने के लिए तमाशा करता था *ज्ञानोदय* उससे आगे निकलने को है। राजीव रंजन गिरी ने भी परिचय को वीभत्स बताया।

2004 के वागर्थ के संपादकीय में रवींद्र कालिया ने दलित विमर्श और नारी विमर्श को तथाकथित बताते हुए कुछ संभ्रांत नागरिकों द्वारा दैहिकता और यौनाचार करने का आरोप लगाया था। उपरोक्त परिचय आखिर इससे भिन्न किस दूसरी मानसिकता का खुलासा करते हैं?

कई परिचयों में उकसा कर, आग्रह कर, धमका कर कहानियां लिखवाने की बात की गई है। रचनाकार न हुए गाय–भैंस हुए, दूध नहीं उतर रहा तो इंजेक्शन दे दूध उतार दिया। अपनी समझदारी थोपने का दुराग्रह ऐसा कि इस रौ में वे कई गलतियां कर जा रहे हैं। जैसे, राजीव कुमार के परिचय में पहली पंक्ति में लिखते हैं– 'अब तक दो बार अस्पताल की हवा खा चुके हैं, लगे हाथ दूसरी पंक्ति में लिखते हैं– तीसरी बार अस्पताल से बाहर आए'। सारा ध्यान सुमुखियों पर लगा देने पर ऐसी गलतियां होंगी ही। अंजली काजल ने शादी के बाद जब उसी नाम से कहानी लिखी और छपवाई तो अंजली गौतम हो जाने का स्त्री–अस्मिता विरोधी मत उन पर थोपने के क्या मानी ? हमारे युवा मित्र व जनमत के संपादक सुधीर सुमन ने जब अंजली काजल से इस बाबत पूछा तो उनका मैसेज आया कि मैं अंजली गौतम हूं या अंजली काजल कुछ समझ नहीं आ रहा। सुधीर सुमन ने ही बताया कि ज्ञानोदय में छपे इस अंक के एक रचनाकार के परिचय के दौरान स्टिंग आपरेशन की तर्ज पर छद्म नाम

से रचनाएं करने के राज का पर्दाफाश कर उनके लिए वैधानिक संकट खड़ा कर दिया गया है। संपादकीय नैतिकता के लिहाज से इसे एक भद्दा और क्रूर खेल माना जाएगा। अब तो यही बाकी रह गया है कि वह रचनाकार इसके विरुद्ध किसी कोर्ट में जाए और कहे कि वह छद्म नाम उसका नहीं है और साहित्यिक स्टिंग पत्रकारिता के ज्ञानोदयी संपादक वहां सबूत पेश करें कि नहीं यह नाम उसी का है। यह तो अपना मत और अपनी आधी–अधूरी, सड़ी–गली सूचनाएं पाठकों पर थोपने कोशिश ही कही जाएगी। इस तरह की गॉसिप को क्या कहा जाए? क्या हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता में यह स्टारडम इरा की शुरुआत है? क्या अब हिंदी साहित्य को ज्ञानोदय की इसी परंपरा पर चलाया जाएगा?

नया ज्ञानोदय के मई अंक के संपादकीय में इसी तरह अपना मत जबरदस्ती विजयमोहन सिंह के मत्थे मढ़ने की कोशिश की गई है। विजय कुमार की हजामत इस आधार पर बनाई गई है कि वे कविता में युवा पीढ़ी को तवज्जो नहीं दे रहे और इसके लिए बचाव में खड़ा किया गया है विजयमोहन सिंह को। जबकि पत्रिका के 'प्रारंभ' में ही विजयमोहन सिंह लिखते हैं– "कुछ चतुर और ' शॉप लिफ्टर' कविताएं अपनी असली पहचान छिपाकर पत्रिकाओं तथा अखबारों के साप्ताहिक संस्करणों में प्रवेश पा जाती हैं। इधर की कविताओं में असली रचना की पहचान इसीलिए थोड़ी धूमिल हुई है।" अलबत्ता कविताएं चतुर भी होती हैं, मेरी समझ में यह नहीं आया। हां, उनके निहितार्थ समझ में आए और वे विजय कुमार के कथन को पुष्ट ही करते हैं। मैनेजर पांडेय के अनुसार भी– 'हिंदी में कुछ कवि ऐसे हैं, जिनके लिए कविता लिखना शतरंज खेलने जैसा है। एक और जमात ऐसे कवियों की है जो कविता का प्रयोग मदारी के बंदरिया की तरह करते हैं और उससे पैसा बटोरते हैं। कविता भले ही चेतन मनुष्य की मानस कृति हो, आज के अधिकांश स्वनामधन्य कवियों के लिए तो बुद्धिविलास है।'

नोट– यह टिप्पणी जब हंस में छपने हेतु राजेन्द्र यादव को पढ़ाई गई तो उन्होंने यह कह कर इसे स्वीकार किया कि कविता को लेकर जो हिस्सा है ,विजय कुमार से जुड़ा ,उसे हटा दीजिए, मात्र परिचय पर केंद्रित रहने दीजिए इसे। यह क्या कि जहां देखा वहीं कविता हुए हैं। पर दूसरे दिन संजीव जी का फोन आया, कि इसे छाप नहीं पाएंगे, कि गूह पर ढेला फेंकने से क्या फायदा !

'नया ज्ञानोदय' का नया तेवर!

– स्वतंत्र मिश्र

'नया ज्ञानोदय' के संपादक रवींद्र कालिया ने कुछ रचनाकारों को मानों 'साहित्य–ब्रांड' बनाने की ठान ली है। ऐसा इसी अंक में किताबों के विज्ञापन देखकर भी समझा जा सकता है। मई विशेषांक में कृष्णा मोहन (सिंह) द्वारा लिखे गये लेख मे इस माह की दो पुस्तकों पर प्रायोजित चर्चा करवाई गई है। जिसमें एक पत्रिका के ही सहायक संपादक कुणाल सिंह की 'सनातन बाबू का दाम्पत्य' भी है। सवाल है कि 'मा की किताब' का क्या मतलब होता है? यह इस माह की फिल्में और इस सप्ताह की 'फिल्मी काउंटडाउन' की तर्ज पर चलाई गई बाजारू प्रवृत्ति का अहसास कराता है। इन्हीं दो अंकों के लेखों, कहानियों, कविताओं या फिर रविन्द्र कालिया जी का संपादकीय पढ़कर लगता है कि युवा पीढ़ी किसी भी अन्यपीढ़ी से ज्यादा सक्रिय है। लेकिन सक्रियता का मतलब क्या रचनाओं का पुलिंदा तैयार करना या पुरस्कार बटोरना होता है? (पुरस्कार बटोरना' शब्द परिचयों में कई दफा आया है) सक्रियता का माने क्या '10 अप्रैल की सुबह अपना चित्र खिचंवाने' या 'आधा–दर्जन प्रेम करने या अपने बीवी बच्चों के साथ ताजमहल में चित्र खिंचवाने से लगाया जाए? महिला रचनाकारों के परिचयों में तो तमाम सीमाएं लांघ दी गई है। तिस पर संपादक का तर्क है कि सुंदर को सुंदर न कहें तो क्या कहें। पूछना जरूरी है कि अगर अल्पना मिश्र उन्हें सुंदर लगती हैं तो कविता क्यों नहीं? फिर इसका उनके लेखन से क्या लेना देना है? लगता है कि संपादक लेखिकाओं का 'ब्यूटी कांटेंस्ट' कराने का इरादा रखते है! खैर, ज्ञानोदय के मई विशेषांक के पहले ही कवि (!) हरेप्रकाश उपाध्याय की पहली कविता शब्दों का खेल मालूम पड़ती है। मानों कविता न हुई 'नाराज कवियों का नानाराज या कानाराज' हो गई। हरेप्रकाश की कविता में भाषा की गड़बड़ियों के साथ वैचारिक कंगाली भी पूरे दंभ के साथ प्रकट हुई है। जैसे–तैसे अंकुर मिश्र स्मृति सम्मान झटक चुके इस कवि की एक कविता 'दुखी दिनों में' इसका उदाहरण है। वे 'आसू का प्रयोग बहुवचन की जगह एकवचन में करते हैं और 'ओस उनके यहां टपकती की जगह टपकता है! कवि घोर प्रतिक्रियावादी भी जान पड़ता है। वह एक कविता में 'दो कौड़ी का बनिया' शब्द का प्रयोग जातिसूचक अर्थों में करता है। हिकारत की उसकी यह दृष्टि कुंठित सवर्ण मानसिकता का परिचय देती है। कवि की यह दृष्टि जून में उनके लिखे एक पत्र से और स्पष्ट होती है। इस पत्र की भाषा से साफ है कि संपादक एक नए किस्म का प्रयोजित 'तड़का' डलवा रहे हैं। विशेषांक में विजय कुमार संवाद शैली में लिखे गये आलेख में कहते हैं – 'आज के रचनाकारों का कंधा थोड़ा झुका हुआ हैं दरअसल विजय कुमार काल–सापेक्ष महत्त्वपूर्ण टिप्पणी पर रहे हैं। विशेषांक में छपे उनके पत्र से ऐसा ही जाहिर हो रहा है। विजयमोहन सिंह और उनके आलेखों में एक ही तरह की ध्वनि है। परंतु कालिया जी अपने संपादकीय में दोनों को विपरीत बताते हैं। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि विजय कुमार का आलेख संवाद शैली में है और अंततः वहां कोई निर्णायक वक्तव्य नहीं है। इसके अलावा इन दोनों विशेषांको मे प्रयोजित चर्चाएं ही नहीं है बल्कि युवा लेखकों को लांछित–अपमानित करने का खेल भी पूरी बेशर्मी के साथ खेला गया है जो इसके बाद आए ताजा अंक में और भी खुलकर सामने आया है। आखिर किस तर्क से विशेषांक के पहले अंक में प्रकाशित प्रभात रंजन की एक बेहतरीन काहनी 'मिस लिली' पर एक भी कायदे की प्रतिक्रिया नहीं आती जबकि कुणाल सिंह की बताई जा रही कहानी 'डूब' प्रयोजित चर्चाओं में बेशर्मी की सारी हदें पार कर जाती है! अंत में एक बात यह कि इन दोनो विशेषांको में छपे परिचयों को इसके संपादक यथास्थितिवाद को तोडने की चाहे जिनी क्रांतिकारी कोशिश कह लें, है यह बेहूदगी ही। पत्रिका के साथ चूंकि ज्ञानपीठ की प्रतिष्ठा जुड़ी है इसलिए इस पर उसके संचालकों को भी गंभीरता से विचार करना चाहिए।

साभार : राष्ट्रीय सहारा

मोहल्ला–वार्ता

साहित्य को अपने हाथों का खिलौना बनाने की कोशिश का जब कुछ युवाओं ने विरोध किया तो उसे जगह देने के लिए राजधानी के कई लड़ाकू कहे जाने वाली पत्रिकाएं भी तैयार नहीं हुई या हिम्मत नहीं कर सकीं। वैसे वक्त में ''मोहल्ला ब्लॉग'' ने इस लड़ाई को शुरू किया, जो आखिरकार एक अंजाम तक पहुंच सका।

यह नेहरु को ठेंगा दिखाने वाली निराला की हिंदी है

हिंदी में नवलेखन का स्वर और नया ज्ञानोदय के बड़बोलेपन का हल्ला अभी थोडे दिन चलता रहेगा। लेकिन सवाल ये है कि क्या वाकई नये लेखकों की कोई जमीन है? उनके सरोकार मौलिक और भाषा में पूर्ववर्तियों की नकल नहीं है?

या कहानी या कविता में इससे पहले जो पीढ़ी सक्रिय थी, उनमें परिदृश्य पर छाने के लिए आज की तरह कोई प्रपंच नहीं था? ये सारे सवाल अब उभर–उभर कर सामने आ रहे हैं। लेकिन उसमें ऐसे कुछ मसले थे, जिन पर विस्तार से बातचीत की जरूरत थी। बिहार विधान परिषद के कर्मचारी (कवि) ***योगेंद्र कृष्ण*** ने ये समस्या सुलझायी। उन्होंने ***'मोहल्ले'*** के लिए ***कर्मेंदु शिशिर*** से बात की। एक ऐसे रचनाकार से जो हमारी पूर्ववर्ती पीढी का इस माने में सबसे ईमानदार रचनाकार है, जिसने अपने को हिंदी में प्रकाशित करने का कोई शार्टकट रास्ता नहीं अपनाया। मतवाला (मतवाला का मत) के भूले हुए पन्नों को हिंदी में फिर से छापा और राधामोहन गोकुल जैसे इतिहास में गुम लेकिन जरूरी प्रसंगों का फिर से जिक्र छेड़ा। कहानियों में तो खैर अलग तरह की पहचान बनायी ही।

आप लंबे समय तक नवजागरण पर काम करने के बाद समकालीन लेखन पर आये भी, तो रवींद्र कालिया पर इस तरह व्यक्तिगत आक्रमण क्यों किया? आप हिंदी में उनकी स्थिति और आज के परिदृश्य पर उनकी भूमिका को किस रूप में देखते हैं?

देखिए, हिंदी में तो यही सब चल रहा है। व्यक्तिगत लाभ, व्यक्तिगत सरोकार, व्यक्तिगत पसंद–नापसंद और व्यक्तिगत उपक्रम। ऐसे में, न तो आपका ऐसा सोचना अप्रत्याशित है, न पूछना। आप कालिया जी से ही पूछिए कि उनसे मेरे कैसे आत्मीय रिश्ते रहे, सघन पत्राचार भी। बेशक अपनी पीढ़ी के वे एक सफल और अच्छे कथाकार हैं। उनके पास कुछ यादगार कहानियां और एक अच्छा पठनीय उपन्यास है। लेकिन यह तो पूरी हिंदी जानती है कि उनका समय, समाज और साहित्य संबंधी गंभीर विमर्श से, विचार विश्लेषण से कभी कोई सरोकार नहीं रहा। एक व्यक्तिवादी जीवन की मस्ती और जिन्दादिली रही है, जो उनके संस्मरणों वाली पुस्तक में भी दिखी। बस।

जहां तक उनकी पीढ़ी से तुलना की बात है, तो वे कभी दूधनाथ जी के तरह वैचारिक रूप से न गंभीर रहे, न प्रतिबद्ध! वैसी वैचारिक तुर्शी इनमें कभी दिखी ही नहीं। अगर दूधनाथ जी की तुलना में न्यूनतम विचारोत्तेजकता और आलोचनात्मक विवेक होता, तो वे इस तरह दयनीय नहीं दिखते। न ही कालिया जी में, काशीनाथ जी वाला देशज ठेठपन है। काशीनाथ जी में सहजता, खुली आत्मीयता और गहरी मनुष्यता के साथ–साथ वैचारिक प्रतिबद्धता भी है। गिरिराज किशोर में रचनात्मक विकास की निरंतरता रही है और कई मौकों पर उन्होंने तिकड़ममुक्त, बेलाग, नैतिक साहसिकता का परिचय दिया है। भाषा, साहित्य और कई सामाजिक पक्षों पर उनके गंभीर वैचारिक लेख, टिप्पणियां उनकी छवि गंभीर बनाती हैं। ज्ञानरंजन की तरह दीर्घ

संपादकीय धैर्य और समर्पण की तो बात ही अलग। अब अगर आप सिर्फ कथाकार की बात कीजिएगा, तो रामनारायण शुक्ल, महेंद्र भल्ला, जगदंबा प्रसाद दीक्षित और इसरायल जैसा को शामिल कर देखिए और विचार कीजिए तो आपको पता चलेगा कि यह कितनी सशक्त पीढ़ी है। विजयमोहन जी को पढ़िए उन्होंने बहुतों की परख–पहचान की है। आज के कथाकार इनसे रचनात्मक सरोकार–संवाद रखें तो बहुत कुछ सीख सकते हैं।

फिर यह भी तो देखिए, मेरी न तो किसी विधा विशेष में पहचान है, न मेरी कोई पीढ़ी है, न मैं किसी की हथेली पर उगा, न किसी कश्ती पर सवार हुआ। जब जो रुचा सो काम किया, जहां जरूरी लगा हस्तक्षेप किया। न मेरा कोई खेमा रहा, न कोई गॉडफादर। साहित्य में मुझे किसी से कुछ लेना–देना नहीं। दूर–दूर तक राग–द्वेष वाली कोई बात नहीं। सो, जिसे जो सोचना है सोच–विचार करेंगे ही। कोई छपने से रोके, धमकाये, ललचाये या अपना माथा पीटे, इस सब पचड़े में मैं नहीं पडता।

जब रवींद्र कालिया जी को आप सशक्त पीढ़ी का सफल कथाकार मानते हैं, तो उनके संपादन को लेकर इतने तीखे क्यों हो उठे? अगर वे डॉन हैं, तो परिदृश्य पर और भी तो डॉन हैं? तब सबका प्रतिवाद होना चाहिए।

रवींद्र कालिया जी पत्र का संपादन करें, यहां तक तो बात ठीक है। आखिर हर आदमी अपने जीवन यापन के लिए कोई न कोई नौकरी–रोजगार तो करेगा ही। लेकिन वे हिंदी मे एक और डॉन की भूमिका में 'एक्ट' करेंगे, तो मेरा कड़ा एतराज दर्ज होगा ही। आप कह सकते हैं कि पहले से ही कम डॉन नहीं हैं, जो अपने साम्राज्य और दबदबे के लिए कई क्षत्रप भी खड़े कर चुके हैं। आप पिछले ढाई–तीन दशकों पर निगाह डालिए, तो पाइएगा इनके प्रभुत्व में कई पीढ़िया निकल गयीं। कुछ रचनाकार तो स्थापित होकर भी हवा हो गये, कुछ आज तक प्रयत्नशील हैं। विचार और विश्लेषण को छोड कर इनकी मर्जियां ही इतिहास और रचना का मानक मान ली गयीं। अगर कभी समय इनका कॉलर पकड़ पूछे कि बताइए किस मानक से विष्णु खरे या उदय प्रकाश साहित्य अकादमी पाने वालों से अलग हैं तो इन्हें क्या जवाब सूझेगा? हमारे समय की ये ऐसी परिदृश्य की नियंताओं वाली हिंदी की ऐसी हस्तियां हैं, जो अपना सर्वोत्तम देकर इतिहास की आरक्षित सीट पर स्वयं महफूज हैं और ये ही परिदृश्य को डिक्टेट करती हैं। अगर कोई इनमें से एक की भी कश्ती पर सवार नहीं है, तो हिंदी में उसका बेड़ा गर्क ही समझिए। अगर एक से अधिक कश्तियां पर सवारी साध लेने वाली लाल कमलीय प्रतिभा हो, फिर तो आपके बल्ले ही बल्ले।

बावजूद इस कटु सच्चाई के, परिदृश्य पर इन हस्तियों का एक बड़ा योगदान भी है। डॉ. नामवर सिंह असाधारण मेधा और तीक्ष्ण दृष्टि संपन्न हैं। नागार्जुन बाबा के शब्दों में 'पुस्तक पगी आखें'। उन्होंने अपने विचारोतेजक व्याख्यानों और टिप्पणियों से हिंदी समाज के एक विशाल वर्ग को प्रेरित, प्रबुद्ध और आंदोलित रखा। उन्होंने साहित्य, समय और समाज से जुड़े सवालों के विमर्श को हिंदी के व्यापक नागरिक समाज में विस्तार दिया। बेशक अपने साम्राज्य को बनाये रखने में बहुत सारे ऊंच–नीच घटित किये गये, फिर भी वे हमारी भाषा के सबसे बड़े संरक्षक रहे।

अशोक वाजपेयी के प्रति गंभीर असहमतियों के बावजूद, उनकी सधी आधुनिक भाषा, कला–साहित्य की गंभीर समझ, सूक्ष्म बोध और हमेशा अपने हठों के साथ विमर्श को तत्पर तैयार व्यक्तित्व, अपने ढंग का अकेला है। उन्होंने हिंदी के लिए विभिन्न स्तरों पर कई परिकल्पनाएं शिल्पित की। उन्होंने हिंदी पाठकों को आधुनिक विश्व साहित्य से न सिर्फ जोड़ा बल्कि हिंदी को भी विश्व भाषा के बीच ले गये। अपनी भाषा के कई क्लासिक आधुनिक रचनाकारों को बोध के स्तर पर समझने और प्रतिष्ठा दिलाने में अपना बहुमूल्य योगदान दिया। विभिन्न कलाओं के अंर्तसबंधों को लेकर, साहित्य–सृजन के मूल संदर्भों, साहित्य और कला के मूल्यों और उसकी मौलिक सत्ता को लेकर उनमें हठीले विमर्श की विचारोत्तेजकता बनी रही। परिदृश्य में उनकी भूमिका को आप नकार नहीं सकते।

राजेन्द्र यादव जी को लेकर हमारे अलावे भी, बहुत सारे लोगों के पास शिकायतों, असहमतियों और आलोचनाओं का भरा–पूरा पुलिंदा होगा। लेकिन इस उम्र में भी उनकी निरंतर सक्रियता, जिन्दादिली, अपने वैचारिक आग्रहों और सामाजिक दायित्वों के प्रति साहसिक विमर्श की क्षमता उनको महत्त्वपूर्ण बनाती है। कटु से कटु विवादों और तीखें मतभेदों के बावजूद उनके व्यक्तित्व का खुलापन तथा विमर्श की लोकतांत्रिकता अनुकरणीय है। अपने दम पर दलित–विमर्श को साहित्य के केंद्र में प्रतिष्ठित कर देने का ऐतिहासिक अवदान इतना बड़ा है कि उनके पैदा किये बाकी सारे बवंडर पुछ जाएं।

इस कड़ी की आखिरी हस्ती ज्ञानरंजन को लेकर उनसे जुड़े लोग अंदरूनी बातचीत में उनके खेल को कम निराला नहीं मानते। उनके सघनतम मित्र, उनके घुटेपन का लोहा मानते हैं । जो बहुत डूब कर पानी पीने वाले हैं, उनकी गतिविधियों की जासूसी करते हैं। वे जो खुल कर कुछ कहने का साहस नहीं बटोर पाते। यह सब उनके दबदबे से डरकर नहीं, उनके किए कार्यों के कारण ही सम्मान भरी चुप्पी साधे रखते हैं। उनकी व्यापक वामपंथी एकता की वैचारिक प्रतिबद्धता, उनका चयन विवेक, समय, समाज और विश्व की व्यापक चिंताएं, उनकी मोहक नेतृत्व शैली और विविध स्तरों पर उनकी धुआंधार सक्रियाताओं के बीच उनके रचनात्मक, वैचारिक और भावनात्मक संवादों का कोई जवाब नहीं। दीर्घ काल तक अपने अकेले दम पर एक संस्थान की तरह निष्ठावान सक्रियता उनको इतना ऊंचा उठा देती है कि कालिया जी उचक कर भी, उन्हें छू नहीं सकते। जो पिछलग्गू नहीं होता, वह पिछलग्गुओं को पालता भी नहीं। इन सबके बीच आप कालिया जी को रख कर विचार कीजिए, इनकी करतूतों का आकलन कीजिए, आपको पता चल जाएगा कि इस परिदृश्य में इनकी महत्वाकांक्षा और उसे पूरा करने के उपक्रम, इनको किस तरह हास्यापद बनाते हैं।

मसलन यह कि कालिया जी से बुनियादी तौर पर आपके मतभेद तो वैचारिक हैं, लेकिन विरोध के केंद्र में फिर भी वही आ जाते हैं।

दिक्कत यही है कि वे कभी वैचारिक व्यक्ति रहे ही नहीं हैं। इसलिए उनके साथ इतने ऊंचे दर्जे का विरोध संभव ही नहीं। यह भी एक कारण है कि वे इस पूरे प्रकरण को निजी राग–द्वेष की शक्ल में ही देखते–समझते हैं। इस मामले में उनके कहे–किये की जो जानकारी मिलती है, उसे सुन कर आश्चर्य होता है, दया भी आती है। लगता है जैसे वे आज भी आपातकाल वाले संजय गांधी की सोहबत वाली मानसिकता से उबर नहीं पाये हैं और न ही उनकी साहित्यिक चेतना सन् 1960 के बाद वाली खिलदड़ी आधुनिकता से आगे बढ़ी हैं। वे अकारण ही उदारीकरण का गान नहीं गाते। उदारीकरण की आवारा पूंजी में ऐसी मानसिकता एकदम फिट बैठ जाती है।

दरअसल सारी समस्या की जड़ में उनकी महत्वाकांक्षा है। ज़ो पीढ़ी यह समझ रही है कि ये मौजूदा बाजार में महत्वपूर्ण रहे हैं और कविता, कहानी या आलोचना में ये अमर कर देंगे, उसे यह अंदाज ही नहीं कि अगर यही हाल रहा, तो आगे वे किसी काबिल नहीं रहेंगे। वे अपनी ही भाषा के इतिहास और परंपरा से इतने अनजान हैं कि उन्हें इस बात का पता ही नहीं कि हिंदी के कूड़ेदान में हर काल में कितनी जगह खाली रहती है। शुरू से ही रवींद्र कालिया जी के व्यक्तित्व के मूल में वैचारिकता का अभाव रहा है। इस कारण उनकी प्रवृत्ति में अनुशासन, जिम्मेदारी और गंभीरता रही ही नहीं। साहित्य, समय और समाज के विचार–विश्लेषण को लेकर आज तक उनकी कोई समझ सामने नहीं आयी। ऐसा आदमी एक संस्थान के प्रकाशन, पुरस्कार और पत्रिका के बूते क्या साहित्य में कोई पीढ़ी स्थापित कर सकेगा? क्या हिंदी में आज तक कोई पीढ़ी संसाधनों के बूते स्थापित हुई है? क्या इस तरह कोई इतिहास के पन्नों पर अपनी महत्वाकांक्षा दर्ज करता है? नयी पीढ़ी को ऐतिहासिक अमरत्व देने वाले इस साहित्य निर्माता के लटकों–झटकों पर गौर

कीजिए, आपको इनकी ब्रांड पहचान में आ जाएगी। अब ज्ञानरंजन के मित्र हैं, तो पहल में लेखकों के परिचय देने की संपादकीय शैली की नकल तो आसानी से कर ली, मगर इस उम्र में वैसा बोध कहां से लाते? नमूना देखिए, जून 2007 के पृष्ठ 25 पर शशिभूषण द्विवेदी जी के परिचय का–

इकत्तीस वर्षीय अविवाहित कथाकार। कास्ट एंड रिलीजन नो बार। हाइट एंड वेट नो बार। कंप्लेक्शन एंड क्वालिफिकेशन नो बार। बट गर्ल्स फादर मस्ट हैव हिज ओन बार।

आवारा पूंजी के आवारा समय और संस्कृति में कोई मना नहीं कि कुछ को यह नया अंदाज लगे, लेकिन आप ही बताइए कि सेंस ऑफ अनडिगनिफाइड ह्यूमर का इससे भोंडा प्रदर्शन और क्या होगा? क्या इस अंदाज से नयी पीढ़ी की चेतना का पिछला दरवाजा खटखटाया जा रहा है? जाहिर है वैचारिक रूप से निर्धन की ताकत सरोकार और संसाधन ही होंगे। उसी के बूते वह व्यक्तिगत स्तर पर समर्पित युवाओं की एक फौज तैयार करते हैं, क्योंकि इसी मानसिक आंख से उन्हें वाराणसी में जुटे रचनाकार ज्ञानरंजन के पिछलग्गू और रेजिमेंट के सिपाही लगते हैं। वे वैचारिक विमर्श और विचार–विश्लेषण की कमी को, साजिशों, तिकड़मों और तरह–तरह की हरकतों से सनसनी पैदा कर ढकते हैं। उनका मतलब तो सिर्फ परिदृश्य पर ध्यान आकृष्ट कर लेने मात्र से ही सध जाता है। इसलिए बार–बार विविध उद्यमों से, शोरगुल से जगमग बाजार में, साहित्य की समकालीन दुकान उन्होंने खड़ी कर ली है। इस जगमगाते परिदृश्य में खड़े युवाओं को लगता है कि वे शुरूआत में ही टॉवर पर आ गये। कुछ तो अपनी त्वरा या अज्ञानता में यह सोच ही नहीं पाते कि वे टॉवर पर नहीं, दरअसल रवींद्र कालिया की हथेली पर खड़े हैं।

आप स्मरण कीजिए, कमलेश्वर जी वाले समांतर समय को। जब उन्होंने हथेली खींच ली, तो किस तरह अनाथ हो गये थे–ढेर सारे कथाकार। जो सृजन और विचार की पगडंडी पर चलते रहे, वे तो उबरे भी। बाकी का तो कोई नामलेवा न बचा, जबकि आप कमलेश्वर जी की सोच–समझ, वैचारिकता और संपादकीय क्षमता से कालिया जी की तुलना नहीं कर सकते। वे ऊंची चीज़ थे। मुझे कालिया जी की मंशा पर तभी संदेह हुआ, जब इन्होंने कोलकता में कथा कुंभ आयोजित किया। क्या निकला उस जमावड़े से? कौन सा कथा विमर्श सामने आया,जिसे समझने वाले उसे उद्धृत करते? कहानी से दूर तक परहेज करने वाले अशोक वाजपेयी के संपादन में 'पूर्वग्रह' की कथा–संबंधी सामग्री को सामने रखिए और देखिए कि कालिया जी की उछल–कूद पर वह कितना भारी है! उस पर आप इनकी हिमाकत देखिए, ये कविता जैसी नाजुक, समृद्ध, गंभीर और जटिल विधा में भाग्य विधाता की भूमिका निभाने लगे। हाल–फिलहाल

हास्यरस का इससे बेहतर नमूना मुझे देखने को न मिला। इसलिए सवाल व्यक्तिगत नहीं, इनकी महत्वकांक्षा, भूमिका और पात्रता को लेकर है। क्या इनके उपक्रम में हिंदी की समृद्ध काव्य परंपरा के प्रति साम्राज्य ज्ञान की झलक है? आलोचनात्मक विवेक की बात तो दूर की है। क्या आप युवा पीढ़ी की सृजनशीलता को इतिहास और परंपरा से अलग स्वायत्त रूप में स्थापित कीजिएगा? क्या हैं आपके निषेध और स्वीकार? युवा पीढ़ी की सृजनशीलता के क्या हैं – मानक? यही इनकी शैली है, युवा पीढ़ी की सृजनशीलता पर विचार–विमर्श की? यही इनकी समझ और सीमा है? इसी बूते ये इतिहास में साहित्य निर्माता बनने चले हैं?

कर्मेंदु जी, आपने तब प्रबंध संपादक को पत्र क्यों लिखा? क्या ट्रस्टी के बीच जाना आपका उचित कदम था? क्या इससे व्यक्तिगत आक्रमण नहीं होता? कहीं 'हर्ट' जैसे लगते हैं आप।

पहली बात यह कि मैं ट्रस्टी के बीच गया ही नहीं। बहुत सारे कालिया जी के शुभचिंतकों ने ऐसी राय दी, मगर मैंने ऐसा नहीं किया। प्रबंध संपादक को लिखा था। संपादकीय विवेक पर सवाल पत्रिका में छप रहे प्रबंध संपादक पत्रिका का हिस्सा हैं एक बार 'माधुरी–मतवाला' प्रसंग में ग्राम्यता को लेकर प्रेमचंद जी ने भी प्रबंध संपादक के नाम ही पत्र लिखा था, तो इसमें क्या अनैतिक कर दिया मैंने? मैंने कोई उनको निजी तौर पर आरोप पत्र तो भेजा नहीं, खुले पाठकों के बीच ले गया। ये पारदर्शिता और लाइव टेलिकास्ट की बातें कर रहे हैं, क्या यह बात दिल्ली की स्थानीयता में छुपी हुई है कि ये मेरे पत्र को कहीं छंपने से रोकने के लिए क्या–क्या उद्यम करते रहे! कभी नये–नये लेखकों को फोन कर, धमकाने, मनुहार करने, तो माफी मांगने की खबरें आ रही हैं कि हम इसे फिल्मी कालिया बनने से रोकेंगे। ऐसा परिचय नहीं छापेंगे। कभी कायर सेनापति की तरह नये लड़कों को उकसा रहे हैं कि अब क्या, टूट पडो सामने वाले पर! बेशक उनके अपने पिछलग्गू रेजिमेंट में कुछ इतने हल्के, कच्चे और कमजोर तो होंगे ही, जो हर कीमत पर कालिया की चल पड़ी अमरता एक्सप्रेस पर सवार होने के लिए किसी तरह का कुकृत्य कर डालें। कुछ ऐसे भी होंगे, जो अपने भीतर की लपलपाती छपास को संवरित कर पाने में असमर्थ हों? आप इसी से अनुमान कीजिए कि जिस पीढ़ी के पास अपनी सृजनशीलता पर इतना कम भरोसा होगा, स्वविवेक का ऐसा अभाव होगा, स्थापित होने की ऐसी अधीरता होगी, तो वह किस बूते हिंदी के इतिहास में स्थापित अधीरों के लिए हिंदी के कूड़ेदान में काफी जगह है। न तो स्थापित करने वाले के पास साहित्य, समय, समाज का कोई विचार–विश्लेषण का विमर्श है, न कोई मानक है, न ही स्थापित होने वाले के पास। फिर भी, हठ ऐसा कोई रोक ही नहीं सकता। कीजिए भाई, हो जाइए भाई अमर, जब

तमाशा बनने पर उतारू ही हैं, तो विजय कुमार जी क्यों रोंकेगे? कर्मेंदु–फर्मेंदु किस खेत की मूली? हिंदी का आगामी इतिहास ही लिखवा लें, सारा मामला ही साफ!

अब यह सब छोड़िए कर्मेंदु जी! यह बताइए कि क्या आपको विजय कुमार जी के लेख में कुछ भी आपत्तिजनक या आहत वाली बात नहीं लगी?

(थोड़ी देर की चुप्पी के बाद) देखिए! विजय जी, की शिल्प शैली में ही थोड़ा–सा उकसावा और कुछ–कुछ मोकरी वाले भाव की गुंजाइश है। लेकिन टोन और तेवर तो गौण बातें है। विजय जी ने विस्थापन से जनपदीय विविधता वाली कई बातें उठायी थी, बहस उन पर होनी चाहिए थी। रवींद्र त्रिपाठी ने कथादेश, जून 2007 में भाषा, भाव और टोन की ओर इंगित किया भी है। लेकिन यहीं तो संपादक के विवेक और व्यक्तित्व की परीक्षा होती है। वे चाहते तो खुद विजय जी को ही भाषा, भाव और टोन को थोड़ा–सा बदलने के लिए कह सकते थे, अथवा अपने संपादकीय में उस लेख के रचनात्मक बिंदुओं को रेखांकित कर, बात को गंभीर विमर्श में ढाल सकते थे और नहीं तो किसी दिल्ली के दिग्गज से बात आगे बढ़ा कर, पूरे विमर्श को ही अलग ऊंचाई दे सकते थे। लेकिन उनकी न तो ऐसी गंभीर समझ है, न शालीन संपादकीय विवेक और न ही मंशा। इनका तो 'सनसनी हिट' वाला ब्रांड है न! सो इसी शक्ल में प्रायोजित कर दिया। एक स्थायी सलाहकार बहाल कर ही लिया है।

कर्मेंदु जी! अब आखिरी सवाल। विजय कुमार जी की पीढ़ी और उसके बाद की पीढ़ी को लेकर आपको क्या कहना है? आप क्या सोचते हैं?

बातचीत में हम इतने बड़े और विस्तार वाले सवाल को नहीं समेट सकते। फिर भी, इतनी बात तो तय है कि इतिहास किसी भी समय की उपलब्धियों की परख, निर्मम यथार्थ के आधार पर ही करता है। विजय जी ने अपनी इसी टिप्पणी में अपनी पीढ़ी के परिदृश्य पर कुछ चोट की है, कुछ कुरूपताओं की भी चर्चा की है। अब आप देखिए कि यह पीढ़ी पूरे परिदृश्य पर तीन दशकों तक काबिज़ रही। बेशुमार चर्चाएं, प्रसिद्धियां पैसे और पॉवर! चार–पांच संकलनों पर आठ–दस बार विदेश यात्राएं, देशी–विदेशी भाषाओं में विपुल अनुवाद, अनगिनत सम्मान और पुरस्कार! लगता है, कविता के अलावे हिंदी में कहीं कुछ और हुआ ही नहीं। फिर भी यह पीढ़ी विचार–विश्लेषण के अभाव और शिकायतों से भरी रही। उन्माद में ये सामान्य व्यवहार तक नहीं बरत पाते। अहम के टॉवर पर ऐंठ में टहलते हुए जब भी मैं इनको देखता हूं, तो यह सोच कर हैरानी होती है कि शरीर से इतने कमजोर दिखते मंगलेश जी और अरुण कमल जी कैसे इतने सारे बोझ लादे चलते हैं, प्रेम करते हैं और रच भी लेते हैं। ऊपर से अवसर मिले तो कुछ और बोझ लाद लेने में भी परहेज नहीं। इन सबकी कविता पर गंभीर विचार–विश्लेषण विजय कुमार जी ने ही किया है, सारे चुप हैं। एक ने उन्हें फोन किया, और विस्तार से बताया कि उनकी लेखन शैली में क्या खूबियां हैं। विजय जी भी खुश, वे भी, संबंध कायम रखने को इतना जरूरी था, सो कर दिए। उधर निगाह तो ज्ञानपीठ पुरस्कार पर गड़ी हैं। साठ के करीब पहुंच रहे, दशक भर रिकॉर्ड अच्छा रखना हैं। चाल बहुत दूर से चलनी पड़ती हैं। उधर दूसरे खेमे की भी चिंता है, सो बड़ा सुरक्षित पांव रखना पड़ता है। वरना तनिक भी फिसलन से मोच आ सकती है। ऐंठ और अवसरवाद को साधने की कला और दक्षता का कोई जवाब नहीं है।

अब आप ठीक इस पीढ़ी के पीछे खड़े कवियों को देखिए विष्णु खरे, विनोद कुमार शुक्ल, नरेश सक्सेना, कुमार विकल, विजेंद्र, चंद्रकाल देवताले, ऋतुराज, भगवत् रावत, सोमदत्त, विनय दुबे, आग्नेय, मलय सहित एक भरी–पूरी पीढ़ी है। दशकों तक इन सबको ये धकियाये रहे। इतना ही नहीं, अपनी ही पीढ़ी के नरेंद्र जैन जैसे कवियों को, जितना हो सका पीछे... और पीछे... इतना पीछे करते गये कि वे कभी लौट कर इनके साथ नहीं आये। यह बात तो बताने वाली है ही नहीं कि इस पीढ़ी के भीतर कितनी निर्मम, स्वार्थी और आपसी खूनी चखचख है। बस सार्वजनिक नहीं हो, तो ये एक–दूसरे के खिलाफ किसी सीमा तक चले जाएं। इतना प्रचंड अहम और व्यक्तिवाद तो अज्ञेय जी में भी नहीं था, बल्कि उनके अहम में एक गरिमा थी, पुरस्कार छोटा पड़ जाता था, व्यक्तित्व ऊंचा। मंगलेश जी से यह सवाल पूछना बहुत दिलचस्प रहेगा कि सुदीप बनर्जी बड़े कवि हैं या बड़े अधिकारी? क्या है उनकी समझ और सरोकार, अब मैं छीछालेदर वाले विस्तार में नहीं जाऊंगा। मगर यह मत समझिए कि यह सब खेल छुपा हुआ है। सृजन से नहीं, संकलनों की संख्या से, समीक्षाओं, अनुवादों, विदेश यात्राओं और पुरस्कारों से यह पीढ़ी इत्मीनान में है कि अगली पीढ़ी अभी हाथ भर या बित्ता भर नीचे है। इनसे अगली पीढ़ी कोई उम्मीद पालती है, तो पाले। ये अपने गणित और अर्थशास्त्र के पारंगत लोग हैं। अब परिदृश्य पर फहराने वाले सोचे कि उनको कैसे जगह बनानी है।

कर्मेंदु जी क्षमा कीजिएगा, मैं आपको रोक रहा हूं। मेरा मूल सवाल यह है कि इस विवाद से परे दोनों पीढ़ियों के बीच विमर्श बिंदु क्या हो? आखिर तभी तो बात विवाद से विमर्श तक आएगी?

देखिए संभवतः 'वसुधा' के 1994–95 के किसी अंक में विजय कुमार जी और कुमार अंबुज के बीच गंभीर पत्राचार छपा था। जहां तक स्मरण है विजय जी ने संभवतः ओक्टोवियोपॉज के हवाले से अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी के प्रति आलोचनात्मक

विवेक विकसित करने की बात की थी। आखिर इसी से तो परंपरा से जुड़ाव और अलगाव की बात स्पष्ट होगी। आखिर समय, समाज के प्रति जो चेतन प्रभाव है, उसकी अभिव्यक्ति में तीन बातें स्पष्ट होनी चाहिए। समय–समाज के प्रति आलोचनात्मक विवेक। दूसरी बात अभिव्यक्ति की मौलिकता और तीसरी नयी दिशा या नये उत्खनन! अब 12 वर्षों के लंबे अंतराल के दौरान दोनों पीढ़ियां रचती तो रही, मगर विचार–विश्लेषण से दोनों के मौलिक अलगाव पर तो बात हुई नहीं। बात अब आज हो, या फिर दशक भर बाद–शुरुआत तो आपको यही से करनी होगी। अब सवाल इस पीढ़ी का हो या उस पीढ़ी का येन–केन अपने को ऊंचा और ऊंचा स्थापित करने की होगी, अपना अहम और अवसरवाद ही मुख्य एजेंडा होगा, तो विमर्श कैसे संभव है? यही लोग न विमर्श खड़ा करेंगे, हम तो करेंगे नहीं

यह नयी पीढ़ी क्यों प्रतीक्षा कर रही है कि उनके वरिष्ठ ही उनकी उपलब्धियों का आकलन करें। कुमार अंबुज हैं, देवी प्रसाद मिश्र हैं, अनामिका जी है, सभी बहुत उन्नत कविता की समझ वाले हैं और भी नाम हैं–तो क्यों नहीं अपनी पीढ़ी के रचनात्मक अवदान का विश्लेषण करते? पढ़ते हुए यह स्पष्ट महसूस होता है कि अष्टभुजा शुक्ल की जनपदीयता में खांटी देसीपन है। वे अरुण कमल की तरह लोक को कमोडिटी की तरह इस्तेमाल नहीं करते। आलोचक नहीं है, तो ये सारे कवि मिल कर ही करें। भाषा, शिल्प और अभिव्यक्ति के विविध, तो कभी इमोशन, तो कभी इंट्यूशन से कविता को समझने की कोशिश करता हूं। कविता पर लिखने का अभ्यास नहीं। ऐसा तो विजय कुमार जैसे उन्नत दिमाग और सूक्ष्म समझ वाले लोग ही कर सकते हैं। इस युवा पीढ़ी को हिंदी काव्य परंपरा को लेकर अपना आलोचनात्मक रुख भी तो स्पष्ट करना चाहिए था? कहां लिखते हैं ये मंगलेश जी और अरुण कमल जी पर। इन लोगों ने हिंदी को उपलब्धियों से अधिक दूहा जरूर है, मगर हैं तो सशक्त और प्रतिभाशाली इसलिए मुठभेड़ का जोखिम और चुनौती तो उठानी ही होगी। वही एक अंबुज को छोड़ किसी ने गंभीर पहल तक नहीं की। इसलिए विमर्श की गंभीर शुरुआत जरूर होनी चाहिए।

या इलाही यह माजरा क्या है!

– फ़ज़ल इमाम मल्लिक

यह महज़ संयोग ही था कि दिल्ली में जिस वक़्त बिहार को लेकर राजेंद्र यादव हंस के पन्नों पर 'वांछित शुद्धता' पर बात कर रहे थे और इस बात से चिंतित थे कि बिहार से आने वालों ने प्रशासनिक, शैक्षिक, अकादमिक, संचार माध्यमों पर कब्जा जमा लिया है और इसका असर गुणवत्ता पर भी पड़ा है। ठीक उसी समय बिहार के कुछ युवा पत्रकार एंव साहित्यकार दिल्ली में साहित्य में परोसी जाने वाली ग़लाज़त के खिलाफ लामबंद होकर साहित्य में 'शुद्धता' का सवाल शिद्दत से उठा रहे थे/ उठा रहे हैं। यह जानना भी कम दिलचस्प नहीं होगा कि दिल्ली में जहां हिंदी साहित्य में एक नए तरह का 'रिमिक्स' परोसा जा रहा था, उर्दू साहित्य के सूरमा भी आपस में जूतमपैजार में जुटे थे। दिल्ली युनिवर्सिटी के उर्दू विभाग में कुछ लोगों पर हमला करते हुए बहुत ही बेहूदा और लिजलिजी भाषा में परचे बांटे जा रहे हैं। साहित्य का यह घिनौना चेहरा दिल्ली में अपनी पूरी बदसूरती के साथ कई–कई रूप में हमारे सामने पसरा है और हम अपने इस 'साहित्य' पर ऐंठ–अकड़ रहे हैं। स्त्री विमर्श के नाम पर पिछले कुछ सालों में औरतों के जिस्म को बाजार में बदलने की लगातार कोशिश की जाती रही है, अब बात इससे आगे जा रही है और औरत ही नहीं घर व परिवार को भी बाजार में बदलने की कोशिश की जा रही है। इस कोशिश में हिंदी साहित्य से जुड़े लोग ही पेश–पेश हैं। और हैरत इस बात पर होती है कि साहित्य के सूरमा चुपचाप तटस्थ भाव से इस पूरे खेल को देख रहे हैं। कोई इन सबके खिलाफ आवाज उठाने की कोशिश नहीं कर रहा है, सिवाय बिहार के उन चंद युवा साहित्यकारों के जो अपने सामाजिक सरोकारों के लिए तन कर खड़े हैं।

हिंदी साहित्य का यह एक नया चेहरा हमारे सामने है। यह चेहरा बदसूरत और डराने वाला है। साहित्य में यह जो 'बदलाव' आया है वह दिल्ली की देन है। दिल्ली में मठों में बैठे लेखकों ने साहित्य की मंडी में अपना–अपना सिक्का चलाने के लिए तरह–तरह के हथकंडे अपनाए। चेले–चंपुओं का तो इस्तेमाल किया ही, औरतों (पाठक यहां लड़कियां पढ़ सकते हैं) को भी इस मंडी में एक जिंस की तरह खड़ा कर दिया। जाहिर है कि साहित्य की इस मंडी में उनकी पूछ ज्यादा होने लगी जिन्होंने औरतों को हथियार के तौर पर अपने लिए इस्तेमाल किया। कुछ लोगों ने

तो लेखन से ज्यादा सिर्फ इसी एक 'हथियार' को साहित्यकार बनने के लिए बार–बार इस्तेमाल किया। दिल्ली के साहित्य जगत में ऐसे ही लोगों की पूछ भी हुई और उनका रुतबा भी बढ़ा। साहित्य में स्थापित होने का यह शार्टकट और सहज तरीका कई लोगों को बेहद रास आया। महिला मित्रों के इस 'रसूख' ने कइयों के लिए साहित्य में जमने–जमाने का काम तो किया ही, विवादों को भी जन्म दिया। लेकिन इन विवादों का ताअल्लुक साहित्य से नहीं है बल्कि साहित्य से इतर व्यक्तिगत स्तर पर एक–दूसरे की निजी जिंदगी में झांकने के लिए ज्यादा खड़ा किया जाता रहा या किया जा रहा है। फिर प्रायोजित तरीके से इन विवादों के पक्ष और विपक्ष में बोलने–बतियाने का सिलसिला शुरू होता। और इसी बहाने एक–दूसरे को खूब–खूब गरियाया जाता है। क्रिकेट की भाषा में बात करें तो दिल्ली में साहित्य में एक अलग तरह का 'मैच फिक्सिंग चल रहा है। यहां खिलाड़ियों की खरीद–फरोख्त तो होती ही है, कई–कई बार तो अंपायर भी फिक्स हो जाते हैं। जाहिर है, सारा खेल रसूख के बूते चल रहा है और नामवर सिंह भी यह कह ही चुके हैं कि उन्होंने कइयों को साहित्य अकादमी के पुरस्कार दिलवाए हैं। उनकी इस एक टिप्पणी से ही साहित्य के इस गड़बड़झाले को आसानी से समझा जा सकता है। रही सही कसर साहित्य के 'राखी सावंतों' ने पूरी कर दी है। हिंदी सिनेमा में इन दिनों आइटम नंबर का चलन खूब बढ़ा है और राखी सावंत आइटम गर्ल इसी की उपज हैं जो पुराने हिंदी गानों के रीमिक्स पर तरह–तरह से बदन उघाड़ कर नाचती हैं और चैनल इन्हें उससे भी ज्यादा उघाड़ कर हम तक पहुंचाता है। दरअसल ममता कालिया ने मेरी इस धारणा को और पुख़्ता किया है कि हिंदी साहित्य में भी रीमिक्स की घुसपैठ हो चुकी है और इस रीमिक्स पर कई–कई राखी सावंत तरह–तरह की मुद्राओं के साथ वह सब कुछ परोस रही/रहे हैं जिसका साहित्य से कुछ भी लेना–देना नहीं है। ममता कालिया ने 'नया ज्ञानोदय' में चित्रा मुदगल पर लिखे अपने लंबे आलेख का समापन करते हुए उन्हें साहित्य की हेमा मालिनी बताया है। नहीं, इसमें कुछ भी गलत नहीं है। हालांकि कइयों को इस पर आपत्ति हो सकती है। लेकिन मैं उनसे पूरी तरह सहमत हूं क्योंकि उन्होंने लोगों के लिए नई राह खोल दी है। दिल्ली की साहित्य बिरादरी को अब एक–दूसरे पर हमले करने के लिए नया हथियार मिल गया है। अब किसी को गरियाने के लिए कुछ ज्यादा कहने की जरूरत नहीं पड़ेगी। उसे साहित्य का प्रेम चोपड़ा, अमजद खान या अमरीशपुरी कहना ही काफी होगा। कुछ और गाली देना है तो नए जमाने के विलेनों का नाम ले दें। गुलशन ग्रोवर, आशीष विद्यार्थी और ऐसे ही कुछ दूसरे नाम आप ले सकते हैं। कइयों को शक्ति कपूर भी कह सकते हैं क्योंकि साहित्य में भी तो 'कास्टिंग काउच' आम बात है। किस–किस के और

कैसे–कैसे संबंध किस–किस के साथ है, यह बात ढकी–छुपी नहीं है और कौन लेखक किस नई लेखिका को प्रमोट कर रहा है, इससे भी साहित्य की दुनिया अनजान नहीं है। अब किसी की तारीफ करने के लिए इतना भी काफी होगा कि वे साहित्य के दिलीप कुमार, धर्मेंद्र, शशि कपूर या जितेंद्र हैं। नए नायकों का नाम जानबूझ कर नहीं ले रहा हूं क्योंकि अब फिल्मों में नायकों की भूमिकाएं बार–बार बदल रही हैं। नायक अब खलनायक बन कर आने लगे हैं या फिर भांडों की तरह उछलते–कूदते दिखाई देते हैं। ऐसे में किसी भी तारीफ करने के लिए किसी नए नायक से उनकी तुलना करना बहुत ही जोखिम भरा हो सकता है आज फिल्मों में नायक का अर्थ बदल गया है। फिल्मों में न सिर्फ वे फूहड कॉमेडी करते नजर आते हैं बल्कि विलेन की भूमिकाओं में भी दिखने लगे हैं। इसलिए अगर किसी की तारीफ में उनकी तुलना किसी नए नायक से की जाएगी तो लोगों को कई तरह के भ्रम होंगे कि उनकी तारीफ की जा रही है या बुराई। तो ममता कालिया ने साहित्य में जो नई नजीर कायम की है, इससे बहुतों को बातें कहने में सहूलियत होगी। हालांकि मेरे कई मित्र भी ममता कालिया के इस तरह हेमा मालिनी के संबोधन से खासे नाराज हैं। पर उनकी नाराजगी जल्द ही दूर होगी, यह मैं यकीन के साथ कह सकता हूं क्योंकि अब कई बातें परदे में रह कर कही/सुनी/सुनाई जाएंगी। लोगबाग परदे के पीछे के जुमलों को अपने–अपने तरीके से परिभाषित करेंगे। जरा सोचिए/कल्पना कीजिए राजेंद्र यादव, नामवर सिंह, अशोक वाजपेयी, मैनेजर पांडेय, विश्वनाथ त्रिपाठी, मैत्रेयी पुष्पा, केदारनाथ सिंह (पाठक अपनी सहूलियत से इस सूची में जितने नाम चाहे जोड़ सकते हैं) ही नहीं रवींद्र कालिया को इसी तर्ज पर लोगबाग किस संबोधन से पुकारा करेंगे और खुद ये एक–दूसरे पर किस तरह के फिकरे कसेंगे। हो सकता है कई लेखिकाओं को इस बात का मलाल हो कि ममता कालिया ने चित्रा मुदगल को हेमा मालिनी कह कर उनका रास्ता बंद कर दिया क्योंकि हेमा मालिनी तो एक ही हो सकती हैं और यह संबोधन अब किसी दूसरे को दिया ही नहीं जा सकता। पर इस बात की संभावना जरूर है कि आने वाले दिनों में हम किसी के बारे में यह टिप्पणी जरूर सुनें कि फलां तो साहित्य की ललिता पवार, मनोरमा या शशिकला हैं। हो सकता है कि कुछ लेखक व लेखिका इस बात पर चर्चा भी कर रहे हों कि साहित्य के धर्मेन्द्र, जितेंद्र, वहीदा रहमान, श्रीदेवी, माधुरी दीक्षित, आशा पारेख, आमिर खान, शाहरुख खान या सलमान खान कौन हैं? कुछ ने तो अपने लिए अपना नाम तय भी कर लिया होगा और संभव हैं कि अपने खेमे से जुड़े लोगों को कह भी डाला हो कि अगले किसी आलेख में उन्हें फलां–फलां संबोधन दे डालो। वैसे इस बात पर गौर किया जाना चाहिए कि आज साहित्य की ललिता पवार और

शशिकला कौन हो सकती हैं? किस महिला रचनाकर के लिए ये नाम मौजूं होंगे।
ममता कालिया ही इस पर बेहतर जानकारी दे सकती हैं लेकिन खुद ममता जी की
कसीदाखनी में अगर कुछ लिखना हो तो उन्हें साहित्य की क्या कह कर पुकारेंगे,
इस पर भी विचार किया जाना चाहिए। पर साहित्य में जो नया खेल –'नया ज्ञानोदय'
ने शुरू किया है, वह जरूर चिंतित करने वाला है। रवीन्द्र कालिया ऐसा कर अपना
कौन सा मकसद साधना चाह रहे हैं यह तो पता नहीं, लेकिन एक बात तय है कि
वे युवा रचनाकारों को जिस तरह से परोस रहे हैं उसके दोहरे खतरे सामने नजर
आ रहे हैं। यह खतरा बाहरी भी है और भीतरी भी। भीतरी खतरा ज्यादा खतरनाक
है। 'नया ज्ञानोदय' के युवा पीढ़ी विशेषांक में रचनाकारों के परिचय को जिस तरह
से ग्लैमराइज किया गया है, उससे कई तरह के सवाल तो खड़े होते ही हैं, कई खतरे
भी दिखाई पड़ रहे हैं। अंक से गुजरते हुए कहीं भीतर पर बात भी शिद्दत से उठती
रही कि कहीं रवींद्र कालिया युवा लेखकों के खिलाफ कोई साजिश तो नहीं रच रहे
हैं। कहीं वे उन्हें 'डिरेल' करने की जुगत में तो नहीं है। युवा लेखकों के परिचय में
जिस तरह का खेल रवींद्र कालिया ने खेला है, उससे यह साफ लगता है कि उनकी
नीयत क्या है। वे विवाद तो खड़ा करना चाहते ही थे, उनका मकसद यह भी रहा
होगा कि लोग रचना को रचना के भीतर जाकर नहीं रचना को बाहर से ही देखें और
परखें। जाहिर है इसके लिए कुछ नया करने की जरूरत थी इसलिए उन्होंने युवा
लेखकों को ब्रांड में बदल कर उन्हें बाजार में परोसा, पाठकों के लिए नहीं
उपभोक्ताओं के लिए। रवींद्र कालिया को बाजार की परख है इसलिए उन्होंने
लेखिकाओं के परिचय में मिर्च–मसाला ज्यादा लगाया। किसी को सुंदर बताया तो
किसी के साथ कुछ और विशेषण लगाए। 'शादी से पहले और शादी के बाद' ब्लू
फिल्मों के टाईटल जैसे बाजारी विज्ञापनों की भाषा का इस्तेमाल किया, कुछ के बारे
में यह भी लिखा कि सिलाई–कढ़ाई में प्रवीण और पाक कला में दक्ष तो एक लेखिका
के परिचय में लिखा कि जी खोल कर हंसती हैं और धुआंधार लिखती हैं। बहुतों को
लग सकता है कि वे इसलिए लिख पाती हैं क्योंकि जी खोल कर हंसती हैं। अगर
जो खोल कर हंसती नहीं होती तो धुआंधार नहीं लिख पातीं। बाजार में माल बेचने
के लिए कंपनियां विज्ञापनों के बहाने जिस तरह महिलाओं को ब्लेड से लेकर शेविंग
क्रीम के विज्ञापनों में परोसती हैं, रविन्द्र कालिया ने इन लेखिकाओं का इस्तेमाल
बाजार में अपना माल बेचने के लिए ही किया। साहित्य की अपनी जो एक मर्यादा
और गंभीरता होती है वह देखने को नहीं मिली। जाहिर है कि इन अंकों में छपी
रचनाओं से ज्यादा चर्चा दूसरी बातों की हुई। विवादों की वजह से पत्रिका की चर्चा
तो हुई लेकिन युवा रचनाकार इस विवाद की वजह से कहीं हाशिए पर सिमट गए।

जबकि चर्चा उनकी और उनकी रचनाओं की ही होनी चाहिए थी। शायद इसीलिए मुझे लगता है कि नए रचनाकारों के खिलाफ एक गहरी साजिश के तहत यह सारा पाखंड किया गया।

पर अपने इस प्रयोग पर कालिया शर्मिंदा नहीं हुए बल्कि अगले अंक में उन्होंने इसे जस्टीफाई करने के लिए अपने तर्क गढ़े। अपने संपादकीय में वे लिखते है एक जमाना आया जब ज्यादातर अवकाश प्राप्त और बेरोजगार लोग अपने परिचय में घिसी–पिटी शैली में लिखने लगे, सम्प्रतिः स्वतंत्र लेखन। जन्मः 1950, शिक्षाः हिन्दी में स्नातकोत्तर आदि। इस तरह के परिचय से पाठक ऊबने लगे। पाठक को रचना से मतलब है कि आप कैस लिखते हैं इससे उसे क्या लेना–देना कि आप डीएवी कॉलेज में पढ़े हैं या सनातन धर्म अथवा खालसा कालेज मे। इधर प्रयोग के तौर पर 'नया ज्ञनोदय' ने कुछ नई शैली में रचनाकारों का परिचय देना शुरू किया तो साहित्यिक जगत में हलचल मच गई। इसकी टी.आर.पी इतनी बढ गई कि रचनाओं से अधिक रचनाकारो का परिचय पढा जाने लगा। हिन्दी में यथास्थितिवाद का वातावरण रहता है जब कोई तब्दीली आती है तो वह लोगों के हलक के नीचे मुश्किल से उतरती है। यह सोचा जाता है कि जो जैसा है वैसा ही चलता रहे। यथास्थितिवाद के पोषक तथा सेंस ऑफ ह्यूमर से रहित लोगों को तो किसी प्रकार का बदलाव रास नहीं आता। ऐसे में वे शुद्धतावादी चोला अख्तियार कर लेते हैं और उसकी समझ में नहीं आता कि अनुज तो कथाकार है, वह बैलों की खरींद–फरोख्त क्यों करेगा? जबकि अनुज का इससे बेहतर परिचय नहीं हो सकता था। उसने पशु मेलों पर एक अत्यंत मार्मिक और प्रमाणिक कहानी लिखी है। बैल खरीदने वाले कैसा बैल खरीदते हैं, बैल की कौन सी विशेषताएं मूल्य निर्धारण करती हैं। इसे जानना हो तो अनुज की कहानी पूरे हिन्दी कथा साहित्य में नहीं मिलेगी। अब यदि उसका परिचय यों दिया गया कि जवाहर लाल यूनिर्वसिटी के पूर्व छात्र, दाढ़ी रखने की प्रेरणा वहीं मिली। बैलों की खरीद–फरोख्त का अच्छा अनुभव' तो कौन सा कहर बरपा हो गया'। रवींद्र कालिया ने ठीक लिखा है कि इससे कहर नहीं बरपा हो गया पर उनके इस संपादकीय ने खुद उनके 'प्रयोग' पर सवाल खड़ा कर दिया है। रवींद्र कालिया की इन पंक्तियों ने मेरी इस बात की ही तसदीक की है कि नए रचनाकारों के साथ एक सोची–समझी साज़िश के साथ यह सब कुछ किया गया है ताकि लोगों का ध्यान रचना पर कम, दूसरी बातों पर ज्यादा रहे। हो सकता है कि नया ज्ञानोदय में छपने वाले रचनाकार मेरी इस बात से असहमत हों, पर उनकी सृजनशीलता पर कई तरह से सवाल खड़े करने की कोशिश तो की ही गई है। खुद रवींद्र कालिया ने लिखा भी है कि रचनाओं से ज्यादा रचनाकारों के परिचय पढ़े गए हैं, तो इस प्रयोग की

अहं संपादकास्मि

– संजीव ठाकुर

मेरे भोले एवं चतुर पाठको!
मेरी सुंदर एवं असुंदर पाठिकाओ!
मेरे मित्र एवं शत्रु आलोचको!

अब तक आप समझ ही गए होंगे कि मैं कौन हूं? जी, हां सही पहचाना, मैं वही भूतपूर्व लेखक हूं जिसने आज की चर्चित 'उत्तर आधुनिकता' को सबसे पहले साहित्य में जगह दिलवाया, जिसने शराब और औरत का साहित्य को मूल्य बनावाया, जिसने शराब के नशे में पेशाब की धार को लड़वाया। जी, हां, लेखक से रिटायर्ड होने के काफी समय बाद मैं संपादक बना, लेकिन इससे क्या? मैं इस दौर का सबसे बड़ा संपादक हूं–सही मायने में उत्तर–आधुनिक! पड़े रहे जिन्हें पड़ना हो स्त्री–फिस्त्री, दलित–फलित विमर्श में। 'संतन को कहा सीकरी सो काम? ''मैंने तो एक अलग ही बीड़ा उठाया है – लेखक जैसे मरे–गले प्राणी को 'स्टार' का दर्जा दिलवाने का बीड़ा। लोग करें जितनी करनी हो आलोचना, मैं लेखक को स्टार का दर्जा दिलवाकर ही दम लूंगा। हां, मैंने बूढ़े–पुराने लेखकों का ठेका नहीं लिया है–उनके सारे 'कल–पुर्जे ' बेकार हो चुके हैं, उनका अब कुछ नहीं हो सकता है। इसलिए मैंने बिल्कुल फ्रैश, ताजा अभी–अभी खेत से तुड़कर आई भिंडी, लौकी, सीताफल, टमाटर, पालक वगैरह को पकड़ा है। और उन्हें ही आज का –महानायक' बनाने की तैयारी में जुटा हूं। बहुतों को तो अभी ही वह दर्जा मिल चुका है जो प्रेमचंद, जैनेन्द्र, अज्ञेय, हजारी प्रसाद वगैरहों को मरने के इतने वर्षों बाद भी नहीं मिल सका है। बताइए आप, टमाटर सिंह और मो. प्याज के बिना आज की हिन्दी कहानी का मानचित्र बनाया जा सकता है? क्या कहा?... कुछ मत कहिए। आप भी उनसे जलने वालों में शामिल समझ लिए जाएंगे। आप करेंगे भी क्या खाकर भिंडी सिंह का मुकाबला? देखिए क्या बुनावट है? क्या कटाव है उसकी कहानियों का? जी हां, उसका खुद का भी। तभी तो क्या गधानंद, क्या उल्लू मोहन, क्या बिल्ली केश, क्या चूहा तिवारी–सभी उसकी तारीफ में बड़बड़ा रहे हैं। आपको उनकी बड़बड़ाहट से नींद नहीं आती हो तो नींद की दवा ले लें कृपया! मैं तो अपने कर्म में लगा हुआ हूं–पिछले चार वर्षों से। जब मैं उस पत्रिका का संपादक था तब से लेकर इस पत्रिका का संपादक होने तक। वहां भी आपने देखा होगा– दो कहानियां लिखने वालों को मैंने कितना चढाया था? उन पर पूरी दुनिया का ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से उन पर मैंने 'फोकस' कार्यक्रम आयोजित किए थे। एक लेखक का आठ पेज का आत्मवक्तव्य, उस पर एक लेखक

का आठ पेज का आत्मवक्तव्य, उस पर एक लेखक का आठ पेज का संस्मरण, उसी पर एक लेखक का दस पेज का संस्मरण, उसी पर एक आलोचक की चौदह पेज की आलोचना! किसी संपादक ने किया है आज तक यह काम? नयों को घुसने तक तो देते नहीं अपनी जागीर में, मैंने नयों को पूरी जागीर ही दे दी है।

आपने गौर फरमाया होगा? शुरू से ही नए लेखको का परिचय देने का नायाब तरीका मैंने अपनाया हुआ है। (मेरे इस 'आविष्कार' पर मुझे साहित्य का नोबेल पुरस्कार तो दिया ही जाना चाहिए?) ये क्या कि फलां ईस्वी में जन्मे, एम. ए., पी. एच.डी. की फलां–फलां रचनाएं प्रकाशित?... अरे! भाय, जमाना बदल गया है, कुछ फड़कता हुआ परिचय दीजिए? जैसे कि अमुक लेखक ने कितना प्रेम किया? क्या प्रेम और कहानियों की गिनती बराबर है? किसी ने अगर दो बच्चे पैदा किए तो उतनी ही कहानियां भी पैदा की? किसने किस लेखिका से शादी कर ली? किस लेखिका के कितने बेटे, बेटी हैं? उनके नाम क्या हैं? किसी लेखिका ने अपने पति का क्या नाम रखा है? किस लेखिका की अभी–अभी शादी हुई है? (क्यों हो गई भला?) वह अब किस नाम से लिखेगी? कौन किसी जेलर की पत्नी है, कौन जल्लाद की? कौन कर्नल की पत्नी है कि कौन कलक्टर की और कौन किसी करम घट्टू की? यह सब भी आपको बताया जाना चाहिए। (ओ! पाषाण कालीन संपादन गण, पाठकों को यह सब जानने का अधिकार नहीं है? है! पाठको के लिए यह जानना भी नितांत जरूरी है कि कौन सुंदर कहानीकारा है? किसकी दंत पक्तियां करीने से सजी हैं? किसके दांतों के बीच सुपाड़ी फंसी है? कौन हंसती है तो कुआनो नदी की झर–झर सुनाई देती है? और कौन हंसती है तो कोसी की हाहाकार? कौन सलीके से साड़ी पहनती है और कौन आंचल ज़रा लहरा देती है?...

हे! पाठक गण, मेरी पत्रिका में यह सब आपको पढ़ने को मिलेगा। आप जिस तरह फिल्मी हीरो–हीरोइनों की अंतरंग बातों को जानने के लिए अखबारों के कोने तलाशते हैं, हिन्दी के हीरो–हीराइनों की अंतरंग बातों को जानने के लिए आप मेरी पत्रिका का प्रत्येक पन्ना झाकें। मैं आपको हर बात बताऊंगा। मैं आपको बताऊंगा कि कौन लेखक गुरुवार को साईं मंदिर, लोधी रोड जाता है और कौन शनिवार को शनि–मंदिर, दरियागंज? किसे कौए के पीछे भागना पसंद है तो किसे कबूतर के? कौन भैंसों की खरीद फरोख्त में माहिर है तो कौन सांड़ों की? मैं लेखकों की रूचियों–अरूचियों के बारे में भी आपको विस्तार से बताऊंगा। मैं आपको इस बात की जानकारी दूंगा कि किसको गर्दभ, उल्लूक वगैरह! कौन लेखक अभी तक किसी बार वाले ससुर की तलाश में कुंआरा बैठा है तो कौन रंडुआ होने के बाद लेखिकाओं के पीछे लार चुआता घूम रहा है? कौन लेखक किसी छेड़छाड़ की वजह से अभी–अभी जेल जाने से बचा है तो कौन अभी–अभी पागलखाने से आया है? किसके लिए कहानी लिखने से पहले पेट का इलाज करवाने अस्पताल जाना जरूरी है तो किसके लिए

पेट से नीचे का इलाज करवाने के लिए रंडीखाना?.... यहां खुला खेल फर्रूखाबादी है पाठकगण! जब हम साहित्य में कुछ नहीं छुपाते तो उनके रचने वालों के बारे में कुछ क्यों छुपाएंगे? हम आपको जरूर बतलाएंगे कि किसने अपना कौमार्य अपनी चाची के संग तोडा है तो कौन अपनी मौसी से फंसा है? हमारी खुफिया टीम सबकुछ टोहने में लगी है, हम धीरे-धीरे आपको सब कुछ बतलाते रहेंगे।

हीरो-हीरोइनों की तरह एक से एक स्टाइलिस्ट तस्वीरें देने का सिलसिला तो हम शुरू कर ही चुके हैं, हम यह बतलाने का प्रयास भी शुरू कर चुके हैं कि अमुक लेखक या लेखिका की अमुक तस्वीर अमुक तारीख की सुवह बिस्तर से उठने के बाद की है या शाम शराब पीने के पहले की! इसके अलावा भविष्य की भी हमारी कुछ योजनाएं हैं। बस आप हमारे साथ धैर्यपूर्वक बने रहें और 'मालिक' मुझे संपादक बनाए रखें। हम भविष्य में लेखकों-लेखिकाओं की और भी रूचियों-अरूचियों के बारे में बतलाने वाले हैं। हम उनके पहनने-ओढ़ने के कुछ गुप्त नंबर भी आपको बतलाने वाले हैं। कंपनियों वगैरह के नाम इत्यादि भी। अगर संभव हुआ तो कुछ नाप वगैरह भी सुरक्षित-असुरक्षित दिनों के बारे में भी। उनकी इच्छा-अनिच्छा के बारे में भी। किसी विशेष मुद्रा की तस्वीरें भी हम उपलब्ध करवाने की सोच रहे हैं। निश्चय ही ये जानकारियां एवं तस्वीरें आपके लिए सेहतमंद होंगी।

हे! पाठकगण, मैं आपको डपटकर, तरेरा देकर निवेदन करना चाहूंगा कि मेरे निंदक जो चतुर्दिक मेरे बारे में दुष्प्रचार फैला रहे हैं, उनके झांसे में न आएं। वैसे उनके दुष्प्रचार से हमारा कुछ बिगड़ने-उखडने वाला भी नहीं है। हम हर विपरीत परिस्थितति में फलने-फूलने वाले 'पतित' के पौधे हैं। आप यह भी जान लें कि हर शहर, हर गली, हर मुहल्ले में मेरे सहयोगी (आपको उन्हें 'लग्गा-भग्गा' कहने का कोई अधिकार नहीं है!) हैं, वे अजातशत्रु हैं, वे बुझाई में न सही, लगाई में माहिर हैं। आप अगर मेरे विरोध में जाएंगे तो लगा' दिए जाएंगे। साथ रहेंगे तो कइयों की तरह आपको भी पाठक से उठाकर मैं लेखक बना दूंगा। मैं पूरी दुनिया को बता दूंगा कि आप भारतेन्दु के भाई के साले की पोती की चमची की बेटी हैं, आप प्रेमचंद के नाती के बेटे के कुत्ते के दोस्त हैं, प्रसाद की तम्बाकू की दुकान के लिफाफे की पांचवीं पीढ़ी से आते हैं। (यानी 'स्टार' घराने से!) सारा हिन्दी संसार ऐसे ही आपको सिर पर बिठा लेगा। इसके बाद आपकी कूड़ा-कहानी को मैं दोस्तोवयस्की के टक्कर का बता दूंगा तो पूरी दुनिया आपका लोहा मान ही लेगी। चाहे आपमें लिखने का माद्दा नहीं हो, मैं आपको लेखक बनाकर ही छोड़ूंगा। हां, भई, हां, मैं चेखव की कहानी का फोटोस्टेट करवाकर नीचे आपका नाम लिखवा दूंगा। बस आप मेरा साथ दीजिए, इस 'आपातकाल' मे मेरा 'हाथ' गहे रहिए। मेरे पक्ष में भाषण दीजिए, मेरे 'सुकर्मों' पर पर्चे निकालिए,, दीवारों पर जिंदाबाद के नारे लिखिए, अपने साथ-साथ आपको भी पार लगा दूंगा मैं। तथास्तु।

रवींद्र कालिया के आने के बाद से जो लोग भारतीय ज्ञानपीठ छोड़ने के लिए विवश हुए, वे हैं- अभिषेक कश्यप (सहायक सम्पादक, नया ज्ञानोदय) धर्मेन्द्र सुशान्त (प्रकाशन अधिकारी), किशन कालजयी (वरिष्ठ प्रकाशन अधिकारी), मनोज झा (विक्रय सहायक), शिखा गुप्ता (टाइपिस्ट), महेश्वर (सहायक जन सम्पर्क अधिकारी)। किशन कालजयी के इस्तीफा पत्र से भारतीय ज्ञानपीठ के आन्तरिक परिवेश का अनुमान लगाया जा सकता है।

इस्तीफा-पत्र

सेवा मे

श्री अखिलेश जैन

प्रवन्ध न्यासी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

महोदय,

निवेदन करना है कि भारतीय ज्ञानपीठ के कार्यकारी निदेशक श्री रवीन्द्र कालिया की पक्षपातपूर्ण प्रशासनिक अराजकता के कारण भारतीय ज्ञानपीठ का आन्तरिक परिवेश बुरी तरह नष्ट हो गया है। चुगली और चापलूसी करने वाले चन्द लोगों को निजी स्वार्थवश कालिया जी बुरी तरह बढ़ावा दे रहे हैं, ऐसे असहज माहौल में अधिकांश कर्तव्यनिष्ठ अधिकारी और कर्मचारी अपने को असुरक्षित महसूस कर रहे हैं। कई लोग ज्ञानपीठ को छोड रहे हैं और कइयों ने छोडने का मन बना लिया है।

'नया ज्ञानोदय' में भी अपने सम्पादकीय दुराचार से कालिया जी ने कई लेखकों का अपमान किया है। निस्सन्देह इन कुकृत्यों की वजह से भारतीय ज्ञानपीठ की गरिमा घटी है। इस पतनोन्मुख भारतीय ज्ञानपीठ में मेरे लिए काम करना न तो नैतिक है और न ही मर्यादित।

मैं भारतीय ज्ञानपीठ छोड़ना चाहता हूं, यह मेरा इस्तीफा है। इसे मंजूर कर 31 जुलाई 2007 तक मुझे मुक्त करने की कृपा करें, आभारी रहूंगा।

एक पंक्ति का इस्तीफा लिखकर भी मैं मुक्त हो सकता था लेकिन इन कड़वी सच्चाइयों को आपके संज्ञान में लाना मैंने इसलिए जरूरी समझा कि निदेशक/सम्पादक तो आते-जाते रहेंगे, परन्तु ज्ञानपीठ स्थायी है। और अन्ततः इसकी परवाह आपको ही होनी चाहिए।

आभार सहित,

(किशन कालजयी)

वरिष्ठ प्रकाशन अधिकारी

'पहल' के संपादक ज्ञानरंजन सहित कुछ रचनाकारों ने 'नया-ज्ञानोदय' के संपादक रवींद्र कालिया को पत्राचार के माध्यम से अपनी नाराजगी जताई। कायदे से ये चिट्ठियां 'नया-ज्ञानोदय' में प्रकाशित होनी चाहिए थी लेकिन अलोकतांत्रिकता का चरम ही कहिए, संपादक महोदय ने इनके प्रकाशन पर रोक लगा दी। इसलिए हम ये चिट्ठियां यहां प्रकाशित कर रहे हैं-

इस खिलवाड़ की उम्मीद नहीं थी

प्रिय कालिया,

दिल्ली से लौट कर पहली बार मैंने 'नया ज्ञानोदय का संपादकीय पढ़ा। जिसमें 'पहल' सम्मान वाराणसी पर टिप्पणी की गयी है। यह टिप्पणी जैसा तुमने कहा था, 'मिस फायर' नहीं है, यह सोच विचार कर ही लिखी गई है। तुम चूंकि बनारस में उपस्थित नहीं थे इसलिए जाहिर है कि तुम्हें खुश करने वालों ने तुम्हें यह बताया कि बनारस में पिछलग्गू लोग एकत्र हुए थे। ये तुम्हारे ऐसे भक्त हैं जो 'फ्लोर क्रास' करके अभी-अभी महाबलियों के दरबार में पहुंचे हैं। इसमें 'पहल' सम्मान, हिन्दी के सर्वोत्तम समाज और विजय कुमार पर एक तरह से क्रूर और अश्लील हमला है। तुम काफी अवगत हो, आपातकाल से आज तक पहल पर होने वाले हमलों से इसलिए अब मैं उतना आहत नहीं होता जितना पहले होता था। मैं मानता हू कि हमारा काम ही ऐसा है जिस पर हमले होते रहेंगे। विस्मय की बात यह है कि तुमने 'पहल' के साथ हिन्दी के सैंकड़ों इन्द्रधनुषी रचनाकारो को पिछलग्गू जैसे शब्द से संबोधित किया। अनेक पीढ़ियों के एक-से-एक ऐसे लेखक जिनसे तुम अनेक सालों से विनम्र होकर रचनाएं मांगते रहे हो, जिन्होंने अस्तित्व बनाया उन्हीं को पिछलग्गू लिख दिया। ये लेखक 'पहल' का सम्बल हैं और इन्होंने ही आज पहल को सम्माननीय बनाया है। फिर विजय कुमार जो पहल के निर्माताओं में से एक हैं, जिनके बदौलत 'वागर्थ' और 'नया ज्ञानोदय' की ही नहीं अनेक पत्रिकाओं की आधारशिला बनी उनको अपमानित किया, जलील किया, घेरेबंदी की गयी उनकी। यह किस मिजाज की पत्रकारिता है। इसलिए मैं इसे एक सुनियोजित हमला मानता हूं।

कलकत्ते में 'पहल' सम्मान में तुम उदासीन, तटस्थ रहे। आयोजन के समय तुम और तुम्हारे सहयोगी वागर्थ के काम में व्यस्त रहे। कुणाल को तो मैं समझ सकता हूं कि वह शंभूनाथ जी का शिष्य है जिन्होंने कलकत्ते में पहल सम्मान का बहिष्कार किया, लोगों को इसके लिए टेलीफोन किये। इसलिए कुणाल को तो एक गंदी नींव मिली जो कि अब और मजबूत हुई है। तुम दो-चार अपने पिछलग्गुओं को तो देखो कि वे किस तरह से कुछ टुकड़ों के लिए- सारा जीवन सहित्य मे संघर्षशील विजय कुमार पर हमला कर रहे हैं।

उसके बाद चंद्रकांत देवताले को 'पहल सम्मान, दिल्ली के समय तुम्हारे ही परम शिष्य ने जिस तरह की साजिशें की उससे भी तुम परिचित हो और अब यह सीधा हमला तुम्हारे द्वारा पहल पर, समूचे हिन्दी संसार पर, समझ नहीं आया। जब तुम जानकारों के जानकार हो और तुम्हारे पास भी सूचनाएं आती रहती हैं तब तुम्हें यह भी पता होगा कि 'पहल' सम्मान के पूर्व बनारस के बार-बार चक्कर लगाने वाले एक हिन्दी महाबली अपनी रियासत को बचाने में बड़े बेचैन रहे। अब यह तुम्हारा लोकतत्र है, तुम रिग्रेट करो न करो यह तुम्हारी आजादी है। लेकिन एक लेखक, संपादक के रूप में मेरा 'नया ज्ञानोदय' या भारतीय ज्ञानपीठ से किसी तरह का भी रचनात्मक, भावनात्मक या आर्थिक जुड़ाव नहीं हो सकता। यह मेरे मान-अपमान की बात नहीं, विजय कुमार और समूचे साहित्य समुदाय के अपमान का सवाल है। मैं नहीं जानता कि कौन सा षड्यंत्र या मतवालापन तुम्हारे अंदर पक रहा है कि इतनी खराब भाषा का इस्तेमाल तुमने किया है। करवाया है। मैं सन्यास की तरफ भी जा सकता था, मैं एक गुरिल्ला की तरह भी कूद सकता था पर मैंने यह नैतिक मार्ग अपनाना बेहतर समझा। तुमको याद होगा कि इसी कुल में रहते हुए तुमने एक 'काला रजिस्टर' कहानी लिखी थी और अपने को सेवा मुक्त कर लिया था। एक लम्बे अर्से के बाद तुम उसी कुल में जाकर वही कर रहे हो जिसकी वजह से काला रजिस्टर लिखी गयी थी। क्या तुम काला रजिस्टर के नायक हो गये हो?

एक सम्पूर्ण सुविधामय व्यवस्था में नया ज्ञानोदय निकालना, फतवा देना आसान है पर साहित्य समाज के सहयोग से सारे नर्क उठाते हुए पहल निकालना, पहल सम्मान आयोजित करना सरल नहीं है। पहल सम्मान मेरा आयोजन नहीं रहा, अब वह हिन्दी समाज के हाथ में है। हिन्दी समाज पिछलग्गुओं का समाज नहीं है। तुमने एक खराब, बेबात की बहस छेड़ी है। तुम नयों को बाजारू बना रहे हो, यह खिलवाड़ है। तुमसे यह उम्मीद नहीं थी। मैं भविष्य में कोई काम 'नया ज्ञानोदय' या ज्ञानपीठ के लिए नहीं कर सकूंगा।

– ज्ञानरंजन

101, रामनगर, आधारतल, जबलपुर-482004, म. प्रदेश

साहित्य महज क्रीड़ा स्थली नहीं है

आदरणीय कालिया जी,

सलाम!

निस्संदेह, आप जिस भी पत्रिका के साथ जुड़ते हैं, उसके ले–आऊट में ही अभूतपूर्व परिवर्तन नहीं आता, बल्कि एक बड़ा पाठक वर्ग भी उस पत्रिका से जुड़ता है। आप अपनी पसंद की एक लेखक टीम भी तैयार करते हैं। बधाई लें! लेकिन इधर "नया ज्ञानोदय" के युवा पीढ़ी विशेषांकों में प्रकाशित रचनाकारों का परिचय देखें तो ... ऐसा लगता है जैसे पांत में बैठे खाने का जायका ले ही रहे थे किसी ने पीठ पर जोरदार लात जमा दी हो! यह "फिल्मी कलियां" मार्का विवेक आपका है अथवा आपके किसी सहयोगी का? यदि रचनाकारों ने स्वयं ऐसा बायोडेटा भेजा है तो कुछ कह नही सकता, अन्यथा ये तो चरित्र–हनन के नायाब नमूने हैं! जब बाजार, बाजार की चौंध, बाजार की चौंध से पैदा हुआ ग्लैमर और इस ग्लैमर की छद्मताएं , पहले ही बहुत से महत्वपूर्ण व ईमानदार को ग्रस रहे हों तो कम से कम साहित्य को तो बचे रहने दें!

इन विशेषांकों में "युवा–कविता" को लेकर जो बहस निर्मित की गई है मुझे उस पर भी कुछ कहना है, दोनों विशेषांको के संपादकीय पढ़ने के उपरांत ऐसा लगा कि आपने पहले से इस बहस का खाचा तय कर लिया था। यहां स्पष्ट दिशा–निर्देश हैं। विजय कुमार जी के आलेख (कवित्त की कवित्त है) से मैं भी पूरी तरह सहमत नही हूं। ऐसे गंभीर एवं जरूरी विषय पर इस आलेख का फार्मेट आपत्तिजनक है; किन्तु इस आलेख में, लेखन के समग्र वातावरण में व्याप्त हो चुके, जिस नैतिक स्खलन, उखाड़–पछाड़, आत्ममुग्धता एवं चरणावंदना वगैरह के स्वीकार की बात की गयी थी उसे आपने केवल युवा–पीढ़ी के खाते में डाल दिया और इसके लिए संदेह का पात्र विजय कुमार को बना दिया। आपने जोर देकर कहा भी कि आजकल तो ऐसा नैतिक स्खलन इत्यादि नहीं ही है, बल्कि युवा–पीढ़ी के रचनाकार, इसके प्रति एकदम निरपेक्ष भी हैं! आपने यहां तक कहा कि कभी कोई दूसरी पीढ़ी रही है जहां चाटुकारिता, भ्रष्टाचार, आत्ममुग्धता और अवसरवादिता का अनूठा दौर था ... वगैरह! पहली बात तो यह है मान्यवर, कि जैसा चटखारा विजय कुमार के आलेख में युवा–रचनाकारों को नजर आ रहा है उससे कहीं अधिक, पाठकों को उलझाने का काम या फिर गिमिक्स करने का काम आप, संपादक होते हुए स्वयं कर रहे हैं और बाकायदा संपादकीय लिखकर कर रहे हैं! मुझे तो "युवा" शब्द ही बेहद भ्रामक लगता है यहां अग्निशेखर, देवीप्रसाद मिश्र, कात्यायनी भी युवा हैं और बेशक आपके हरेप्रकाश उपाध्याय भी। पिछले दिनों तो एक पत्रिका ने "राजेश जोशी" तक को

युवा–कवि लिख दिया। और इस भ्रष्ट पीढ़ी से आपका मतलब किन लोगों से है? क्या आप दावा कर सकते हैं कि पीछे हो रहा था वैसा आजकल नहीं ही चल रहा है? कृपया यहां भी तो पारदर्शिता दिखाएं।

सजावट व प्रतिपल मौजूद रहने वाले भड़कीले नयेपन को, जिस तरह से आज का एक जरूरी मूल्य स्थापित कर दिया गया है उसका सबसे मारक असर युवाओं पर ही तो हो रहा है। युवा बच्चे पूछते हैं कि आपने एक ही संस्थान में लगातार बीस–पच्चीस साल तक नौकरी कर कैसे ली? यहां माता–पिता बेकार की चीज हैं और एक रात के रिश्ते सर्वाधिक स्वीकार्य। जब तक जिसकी जरूरत है, तभी तक उससे निभाया जा सकता है। किसी को किसी की परवाह नहीं। क्या ऐसे ही तेवर या मूल्य या संस्कार साहित्यिक परिदृश्य मे भी नजर आना शुरू नहीं हो चुके हैं? एक समय में साहित्य लेखन के कारण से दोस्तियां ही नही रिश्तेदारियां तक होती थीं और आज किसी एक ही अंक में छपे, दूसरे साथी रचनाकार को पढ़ने की जहमत तक नहीं उठायी जाती। मेरे पास तो ऐसे उदाहरण भी हैं कि आर्थिक रूप से कमजोर किसी युवा–रचनाकार की रचनात्मक संभावनाओं को देख यदि कोई मित्र/साथी अथवा कोई वरिष्ठ व्यक्ति उसकी सहायता करता है तो मौका मिलते ही वह युवा–रचनाकार बेहद आसानी से (अपनी तमाम संवेदनाओं को झटक) न केवल अपने इस शुभचिंतक को एक ओर सरका देता है, बल्कि उसकी अवहेलना कर आगे निकल जाता है, यही नही, मौका मिलने पर उसे गलिया सकता है, उस पर घृणित आरोप तक लगा सकता है इसमें कोई आश्चर्य नही होना चाहिए। यह मौजूदा बाजारी समय है, समाज है। रही पुरस्कारों की बात, तो आपके अनुसार पुरस्कार पाने के लिए जो षडयंत्र वगैरह पिछली पीढ़ी (?) में होते आये हैं वैसे षडयंत्र इधर क्या बंद हो गए हैं? हाल ही में "देवीशंकर अवस्थी पुरस्कार" के लिए कैसी खिचड़ी पकी आपको तो यकीनन पता ही होगा। किसी समय "भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार" का कैसा रोब–दाब था ... कैसी खांटी ईमानदारी ... कि जिस कवि को "भारत भूषण" मिला उसने कविता को एक नयी जमीन दी और इधर ...! युवा कवि ने अपनी किसी कविता में, सोच–समझकर, वरिष्ठ–कवि का स्तुति–गान किया और निर्णायक बनते ही उन्होंने उसकी झोली में प्रसाद डाल दिया। मान्यवर, संचार– क्रांति ने इधर जितनी तरक्की की है वह जो जग–जाहिर है ही। हरेक जेब में मोबाइल है। ऐसे में भौगोलिक दूरियों को क्या... सच बताएं कि दिन भर में आपको ही कितने फोन आते हैं? यहीं बस नहीं है, अपने मात्र एक रचना के बलबूते युवा–लेखक भी तो हैं जो इनस्पिरेशन के नाम पर अपनी कहानी में किसी फिल्म (मों) के डायलॉग तक हूबहू टेप डालते हैं। अतः स्टेटमेंट्स जारी करते समय हमें किंचित सजग तो होना ही चाहिए और संपादक से तो अतिरिक्त सजगता की उम्मीद होती ही है .... या फिर आप जानबूझकर ऐसा कर रहे हैं। अमेरिका ने जैसे एन.जी.ओ की संकल्पना देकर, बेहद

संभावनाशील युवाओं की जुझारू रचनात्मकता को सोख लिया है, तो यहां भी कहीं गुडी–गुडी करके उन्हें भटकाया तो नहीं जा रहा? साहित्य में बने रहने के लिए जिस अकूत धैर्य की व अवहेलना सह पाने के लिए जिस आंतरिक ताकत की जरूरत पड़ती है ... वहां ऐसे उपक्रमों से, युवा शक्ति (रचनाशीलता) को कहीं भ्रमित तो नहीं किया जा रहा है? जबकि आज उन्हें एक लंबी लड़ाई लड़ने के लिए तैयार किया जाना जरूरी है।

वैसे मेरा ऐसा मानना है कि जैसे एक लोहार औजार बनाता है, बढ़ई दस्तकारी करता है, किसान फसल उगाता है, उसी तरह यदि आपको कविता–कहानी लिखनी आती है तो लिखें। इसमें विशिष्ट क्या है? हां! आपको देखना यह है कि जो हुनर, ईमानदारी, स्पष्टता, एक लोहार, बढ़ई या किसान के काम में नजर आती है वैसा ही ठोस व निर्णायक काम आपका है या नहीं। कविता/कहानी लिखकर आप अलग से कोई तीर नहीं मार रहे हैं। अतः ऐसी मनःस्थितियों के प्रति युवा–लेखन को जागरूक बनाना भी तो एक संपादक का ही काम है। पर, मुझे ऐसी आशंका होने लगी है कि समय पाकर, कहीं ऐसा तो नहीं कहा जाने लगेगा कि कभी हिंदी में पक्षधरता व प्रतिबद्धता जैसे शब्द भी हुआ करते थे!

अब इसे मान भी लें कि इधर हमारा समय घोर रूप से गैर–राजनैतिक हुआ ही है। यहां हर चीज का, हर स्थिति का स्वीकार हो चुका है। ऐसे विकट दौर में, यदि आलोचक समकालीन हिंदी कविता में जबरदस्त फैलाव देखने के बावजूद, युवा–कविता से और–और बहुत कुछ चाहता है तो इसमें हर्ज ही क्या हैं? यदि वह चाहता है कि इस रचना–विरोधी समय में अच्छी और बुरी कविता के फर्क को समझने की तमीज बची रहे तो इसमें क्या बुराई है? इसी के साथ–साथ मान्यवर, जब आप पत्रिका को दिशा देने और उसका व्यक्तित्व बनाए रखने के लिए हस्तक्षेप करने की बात करते हैं तो पत्रों (युवा पीढ़ी विशेषांक नंबर 2 में) को छापते हुए भी क्या आपका हस्तक्षेप करना जरूरी नहीं था? मंगलेश जी ने "पहल" (84) में उपन्यास के आकार का ही तो मुद्दा उठाया था और उनसे असहमत हुआ जा सकता था, किन्तु "मंगलेश डबराल" जैसे एक वरिष्ठ, प्रतिबद्ध रचनाकार एवं चिंतक के नाम पर "यह मुंह और मसूर की दाल" जैसा अशोभनीय जुमला उछाल देना... यहां आपने क्यों दखल नहीं दिया? विजय कुमार जैसे घोर पाठक एवं कविता के जानकार को हरेप्रकाश उपाध्याय द्वारा अनभिज्ञ, सन्न या करीब–करीब अनपढ़ता में बने रहने वाला घोषित कर दिया गया... और आप चुप रहे, जबकि पारदर्शिता के नाम पर विजय कुमार का स्पष्टीकरण के रूप में भेजा गया फैक्स भी पहले हरेप्रकाश पढ़ते हैं और फिर अपनी चिट्ठी लिखते हैं। ऐसे दोहरे मापदंड क्यों संपादक जी? कहीं ये युवाओं को गर्त्त में धकेलने के कोई षडयंत्र तो नहीं हैं? लगता है कि इस पूरे प्रकरण को बनाने–गढ़ने में "नया ज्ञानोदय" की संपादकीय टीम ने काफी मेहनत की है। अब इससे किसका भला होगा ... पता नहीं। हरेप्रकाश उपाध्याय जी की एक कविता से अपनी बात समेटना चाहूंगा।

इसलिए कि वे युवाओं के नई तरह के संघर्ष व पीड़ा की बात करते हैं और आपने पांच कविताओं से युवा–पीढ़ी विशेषांक के कविता–खंड की शुरूआत भी की है। उनकी एक कविता है "दुखी दिनों में"। यह कविता विचित्र रूप में कवि होने की आत्ममुग्धता से ग्रसित है। यहां कवि अपने दुख की सजावट करता है।"... पर हम लिखते हैं कविता/कविता में थोड़ा सा रो भी लेते हैं। पर आप पूछेंगे तो हम कहेंगे/ यह हमारा आंसू नहीं है/यह तो कविता की रात में टपका हुआ ओस है..." कविता में प्रस्तुत होता कवि का यह दुख, आम आदमी का दुख नहीं है। यह कुछ अलग तरह का दुख है और विरल है, क्योंकि यहां केवल कविता की रात में ही ओस की मानिंद आंसू टपकता है। यह किसी मध्यवर्गीय व्यक्ति के दुखों का सियापा भी नहीं है। कवि बुक्का फाड़ रोता नहीं बल्कि दुख को झुठलाता रहता है। पीड़ा की यह कैसी पुष्टि है और किसलिए है? कविता की शुरूआत देखें :" ... कहा है कुमार विकल ने / दुखी दिनो में आदमी कविता नहीं लिखता /बस इतनी सी बात मैं जोड़ना चाहता हूं/ कि दुख भी कवियों का पीछा नहीं छोड़ता ... " कवि ने "कुमार विकल" की काव्य–पंक्ति को औज़ार के रूप में क्यूं उठाया है? क्या आगे की सारी कविता में यह बताने के लिए कि वह किस–किस तरह के दुख में रहने के बावजूद कविता लिखता है! "कुमार विकल" की इस कविता में दुख का जिक्र जिन कारणों से है, क्या इसकी समझ कवि को हो गयी है ... आप रोएं, चिल्लाएं, पछाड़ खाकर गिरें, दुख में अपने बाल नोचें, अपने बीवी–बच्चे पीटें, जमाने को गालियां दें, भगवान तक की ऐसी–तैसी कर दें .. समाज में ऐसा ही होता हैं न? आम आदमी तो बेचारा भूख और बेबसी के हाथों लुटा–पिटा अपनी किडनी बेच रहा है। अपनी संतान बेच रहा है, अपनी जोरू से धंधा करा रहा है, नष्ट हो रहा है और ऐसा सभी सरेआम दिखाई दे रहा है! कवि के इस अलग तरह के दर्द की पक्षधरता किसके प्रति है... कैसा संघर्ष ? समझ नहीं आया। इस कविता का काव्यनायक है कौन? क्या स्वयं कवि ही? जिस मध्यवर्गीय प्रदर्शन व पीड़ा के निजी द्वंद्व को कवि बुनना चाह रहा है, वह है भूखे रहकर मूंछ पर घी मलकर, या दो सब्जियों के साथ खाना खाकर और थोड़ी सी अच्छी शराब पीकर, सुख मानना। (ध्वनित यह भी होता है कि ससुरा ऐसा सुख हर रोज हमारे हिस्से क्यों नहीं आता)। कवि, मकान मालिक व दो कौड़ी के बनिए की हरकतों पर दुखी होकर केवल कविता में रोता है। अपने पिछले दिनों / परिवार को याद करता है और फिर "कुमार विकल" को बताता है कि देखो हम ऐसे–ऐसे दुखों के बावजूद न केवल जी रहे हैं बल्कि कविताएं भी लिख रहे हैं। क्या यह एकायामी यथार्थ नहीं है? मात्र एक बयान। अहम् की स्तुति और निजता। जहां कोई अचरज नहीं है। और जो विकलता है भी उसे भाषा बस ऊपर–ऊपर ही रख रही है। जिन सूचनाओं को पाठक से बांटा जा रहा है वहां अर्थ की अनुगूंज, पाठक को कैसे आह्वान के लिए प्रेरित कर रही है? विचार व चेतना के जिस कथित समीकरणों के प्रति कवि अविभूत

है, सचेत है, जो उसके आकर्षण हैं और जिन्हें वे अपने जीवन का मिजाज मान रहा है, उनका संश्लेषण कविता में सधता ही नहीं है। यहां दुख देह नहीं धारता है। कवि यदि साहित्य को व्यक्तिगत और सामाजिक–सांस्कृतिक क्राइसिस का परिणाम मानता है तो इस कविता को पढकर यह प्रश्न उभरता है कि दरहकीकत द्वंद्वों को कैसा रैडिकल संघर्ष उन्होंने अपने यहां रचा है? या फिर यहां कैसी रागात्मक उभार ले रही है? यदि कवि आख्यात और विमर्श का फ्यूजन ही कर पाता तो भी एक अलग तरह के संश्लेषण को सकता था, जोकि ठेठ कस्बाई मानसिकता को नए ढंग से उभारता। यहां तो वह जिजीविषा भी नहीं सध पायी जोकि जीवन के ऐसे–ऐसे संत्रासों को झेल जाने के लिए जरूरी होती है। बस एक ही सुर है यहां, कि हम अपने दुख में या फिर अपनी तरह के अनूठे दुख में भी कविता लिख सकते हैं। बहार कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं, क्योंकि हम कवि हैं और ऐ! कुमार विकल, देखा हमारा साहस!

अंत में बस इतना ही, कि हमें सच में, साहित्य में न केवल सही पारदर्शिता की दरकार है, बल्कि सही सेंध की भी! यकीनन अभी भी संभावनाएं बची है, उन्हें प्रदूषण से बचाना हमारा फर्ज है, जरूरी नहीं कोई नारा दिया जाए, किन्तु ईमानदारी तो हो। साहित्य जीवन को बेहतर बनाने के लिए है, इसे भूलना नहीं चाहिए, जीवन को बेहतर बनाने की तौफीक व तमीज भी साहित्य से ही मिलती है। सनद रहे मान्यवर कि साहित्य महज क्रीड़ा–स्थली नहीं ही है!

विश्वास है कि इस पत्र को आपके हस्तक्षेप की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ेगी और यह प्रकाशित भी हो सकेगा।

आपका
मनोज शर्मा (मुंबई)

स्वतंत्र मिश्र को देवेन्द्र आर्य द्वारा लिखे गये एक व्यक्तिगत पत्र का अंश

कुछ लोगों के लिए 'सार्थकता' से बड़ा मूल्य 'चर्चा' होता है। चर्चित होना जब एकमात्र लक्ष्य हो जाए तो दूसरे तरह के रमंदफंद शुरू हो जाते हैं। कालिया जी चर्चा में रहने का गुर बखूबी जानते हैं। लेकिन फिलहाल अभी भी साहित्य–कला–संस्कृति का क्षेत्र एकनिष्ठ साधना का ही है, चर्चा कई पयादान नीचे की चीज है। नई पीढ़ी अफसोसजनक लगता है कि इसे कंसीव न करने व उसे शार्टकट और तुरन्ता संस्कृति में विश्वास करने लगी है। हमें अपना कर्म निभाना चाहिए, गलत लगता है। गलत है तो हिम्मत के साथ गलत कहना चाहिए। खामोश भले हों ये स्वर दमसाधे बैठे हैं। दमदार हैं। स्वर–कल्ले आज नहीं तो कल फूटेंगे। आप यकीन कीजिए, कस कालियावाद का विरोध काफी है।

यह कैसी साहित्यिक पत्रकारिता!

10 जून 2007

आदरणीय कालिया जी,

सादर अभिवादन,

मैं पहले भी आपको दो–एक पत्र लिख चुका हूँ – उम्मीद है आपको अवश्य मिले होंगे। नयी पीढ़ी विशेषांक पर भी मेरी राय आप तक पहुँची होगी। इधर मैंने खुद को एक और पत्र लिखने के लिए मजबूर पाया। सबसे पहले तो आपको बधाई। आज के युग में किसी साहित्यिक पत्रिका का रीप्रिंट करना पड़े तो यह एक अद्भुत सम्पादकीय कुशलता और सफलता का परिचायक है।

मैं पिछले तीन महीने से ब्रेन की ओर जाने वाली एक धमनी में अवरोध की पीड़ा झेल रहा हूँ। काफ़ी इलाज वगैरह भी चल रहा है और साथ ही यह तथाकथित समकालीन कविता वगैरह भी। मुझे मई अंक के बाद मचे कोहराम ने बहुत व्यथित किया है। मैंने विजय कुमार जी के लेख पर अपनी आशंका व्यक्त की थी। वही हुआ भी है। पूरे आयोजन में बहस कविता–कहानी से हटकर उन्हीं पर केन्द्रित है। मुझे नहीं लगता कि ऐसा कोई लेख कभी भी बहस के केन्द्र में होना चाहिए। वे हमारे अग्रज कवि और आदरणीय चिन्तक हैं। लेकिन उनकी हर बात को अपने अस्तित्व का प्रश्न बना लिया जाए, यह बहुत गलत है। मैं तो यह भी कहूँगा कि यह बड़ी सम्भावनाओं वाले एक विशेषांक का सबसे बुरा हश्र है। इधर कई कवि मित्रों से फोन पर बात हुई। मैं यह देख और सुनकर हतप्रभ हूँ कि हमारे मित्र आपस में ही लड़ पड़ने की स्थिति में आ खड़े हुए हैं। उनके बीच गहरा असन्तोष व्याप्त है। वे एक दूसरे पर विश्वास करने में हिचकते हैं। यहाँ खुले मंच की जगह एक विराट नेपथ्य ने ले ली है। समूची पटकथा को परदा उठने के पहले ही बदल दिया जाता है। इधर हुई कई बातचीतों में मैंने यह आभास पाया। कविता की जगह व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। यहाँ तक कि लेखों में हुई नामगणना तक को लेकर विवाद है। कोई कहता है उसका नाम काट दिया गया तो कोई बताता है कि उसका नाम आगे से पीछे धकेल दिया गया। कहीं से ख़बर मिलती है कि कहानीकारों के वे दिलचस्प परिचय दरअसल एक प्रतिभाशाली युवतर कवि के बेहद उर्वर दिमाग़ की उपज हैं। कोई कुछ कहता है, तो कोई कुछ। मैं खुद को खुशकिस्मत पाता हूँ कि मैं संयोग से ही सही पर युवा हिन्दी कविता के एक दूरस्थ स्थान पर रहता हूँ। शायद इसीलिए मुझसे किसी को कोई शिकायत नहीं, लेकिन दूसरे बहुतों से है। मैं अपने सभी संघर्षरत भाइयों से हाथ जोड़कर अपील करता हूँ कि वे कृपया अपनी रचनात्मक ऊर्जा के मूल स्वरूप

को पहचानें। ब्रेख़्त ने शायद कहा था कि दो हाथियों के झगड़े में नुकसान सिर्फ जंगल का होता है। हम क्यों नहीं अपनी ऊर्जा को ऐसी थोथी बहसों के बजाए सार्थक रचनाकर्म में लगाते ? हम अपने नये समय, बदलती हुई जीवन स्थितियों –जीवनमूल्यों, भयावह सामाजिक संकटों और उनके बीच सर उठाती अपनी कविताओं पर क्यों नहीं बात करते ? हम आखिर नामों के चक्कर में क्यों हैं ? कवि जब भी आगे आयेगा, कविता पीछे छूट जायेगी। अपने बौने अहंकारों के बीच अगर हम जीवन और कविता के इस सच को नही पहचानते तो कुछ वक़्त बाद हम परिदृश्य पर मौजूद ही नहीं होंगे। हमें किसी कवि–चिंतक के उत्तेजक लेख या अपने 60–70 कवि नामों की चर्चा से कुछ नही मिलना है। मै खुले तौर पर कहना चाहता हूँ कि जहाँ 500 सौ कविता–पाठकों का टोटा हो, वहाँ 60–70 लोग कवि नहीं हो सकते। यह हम क्या कर रहे हैं ? दोस्तो ये सूची बनाने का समय नही है बल्कि ये समय है कि हम अपनी कविता की सार्थकता–निरर्थकता पर बात करें। हमारे बीच पनपा यह विद्वेष हमें रचनाकार के तौर पर मार देगा और तब कोई अग्रज कवि–चिन्तक और सम्पादक उस मृत देह की शिनाख़्त के लिए तैयार नहीं होगा। मैं ऐसे अन्त से डरता हूँ।

कालिया जी आपकी मार्फ़त मैं चाहता हूँ कि मेरा यह कष्ट और विक्षोभ मेरे सभी हमसफ़र साथियों तक पहुँचे। मुझे मालूम है उनमे से कई इस कोलाहल से दूर हैं। वे कृपया अपनी यह दूरी हमेशा बनाये रखें। मैं तो ख़ैर इस उमड़–घुमड़ को काबू नहीं कर पाया और इतना कुछ लिख गया हूँ।

जून के अंक में पुरस्कारों भी घोषणा है। चन्दन के चयन से मुझे एक सच्ची पाठकीय और निजी खुशी का एहसास हुआ है। वो आजकल मुम्बई में हैं और वहाँ जाने से पहले मैंने उसे मई अंक में छपी उसकी कहानी पर काफी प्रतिकूल प्रतिक्रिया दी थी। मेरा नसीब है कि वह मुझे बड़ा भाई मानता है और उसने यह प्रतिक्रिया भी उसी स्पन्दन के साथ स्वीकार की। मेरा कोई लेना–देना नहीं है पर इधर की कविताओं का खोजी पाठक होने के नाते मुझे लगा कि कविता पुरस्कारों में कुछेक अधिक प्रतिभावान नामों की अनदेखी हुई है। आपको बहुत खुले मन से यह सब लिख पाया हूँ। कुछ बुरा लगे तो कृपया अन्यथा मत लीजिएगा और अपनी खिन्नता भी मुझ तक ज़रूर पहुँचाइएगा।

कुणाल सहित आपकी पूरी टीम को मेरा सलाम।

आपका शिरीश कुमार मौर्य,

अलका होटल से ऊपर, गाँधी चौक, रानीखेत –263645

जाके संग दस बीस हैं बाकी नाम महंत

आदरणीय रवीन्द्र कालिया जी,

'नया ज्ञानोदय' (अंक–5, मई, 07) के संपादकीय में 'पहल सम्मान' समरोह के संदर्भ में आपकी टिप्पणी आपतिजनक ही नहीं, अपमानजनक भी है अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की एक सीमा और गरिमा होती है आपने तो संपादकीय विवेक को भी ताक पर रख दिया है।

आप जेसे प्रतिष्ठित कथाकार से ऐसी अपेक्षा न थी। आपने सुप्रसिद्ध कवि ज्ञानेन्द्रपति के 'पहल सम्मान' समारोह मे बनारस मे दरू–दूर से आये हिंदी के नामचीन कवियों, लेखकों, कलाकारों, बुद्धिजीवियों, पत्रकारों को ' (ज्ञान रंजन के) 'पिछलग्गुओं की फौज' और 'रेजिमेंट' कहकर अपशब्दों का ही प्रयोग नहीं किया है, उन सबको लांछित और आहत किया है। चूंकि मैं स्वयं भी इस सम्मान–समारोह में शामिल था, इस कारण भी मैं अतिरिक्त रूप से अपमानित और आहत महसूस करता हूं।

क्या आप सीधे–सीधे यह नहीं कह रहे हैं कि पहल–सम्पादक यशस्वी कथाकार ज्ञानरंजन जो आपके दोस्त भी हैं, एक डॉन की हैसियत वाले व्यक्ति हैं जिनके गिर्द 'पिछलग्गुओं की फौज पहले से तैयार हो चुकी है जिसकी नुमाइश बनारस में आपको देखने को मिली? इसका एक अर्थ तो यह भी हुआ कि 'पहल सम्मान' से आज तक सम्मानित सभी हिंदी साहित्यकार इसी फौजी दस्ते का हिस्सा हैं। मुझे विश्वास है इन सभी सम्मानित रचनाकारों ने भी जरूर अपनी आपत्ति दर्ज की होगी।

बनारस में 'पहल सम्मान' समारोह में युवा रचनाकारों के अतिरिक्त मूर्द्धन्य साहित्यकारों में कवि केदारनाथ सिंह, चंद्रबली सिंह, काशीनाथ, विजेन्द्र, लीलाधर जगूड़ी, राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, कर्मेन्द्र शिशिर, विजय कुमार अरुण कमल, भारत भारद्वाज, असद जैदी आदि भी सम्मिलित थे। क्या ये सभी लोग भाड़े के फौजी हैं, (ज्ञानरंजन के) पिछलग्गू हैं?

हिंदी साहित्य जगत में ये कैसे दिन चल रहे हैं? कोई किसी की छीछालेदर कर रहा है। कोई किसी को गारिया रहा है। कोई किसी को 'इग्नोर' या 'महिमामंडित' कर रहा है। 'जाके संग दस बीस हैं, बाकी नाम महंत' चरितार्थ हो रहा है।

आदरणीय रवीन्द्र कालिया जी, बताने की जरूरत नहीं कि माननीय ज्ञानरंजन के रचना–कर्म, संपादन–कर्म से ही लोग उनके साथ नहीं जुड़े हैं, वे

उनकी आत्मीयता के सम्मोहन से भी बंधे हैं।

और दूसरी आपत्तिः

आपने चर्चित कवि, आलोचक विजयकुमार के समकालीन कविता पर उनसे लिखवाये लेख को इस तरह कांट–छांट के बाद प्रस्तुत किया है कि जिससे पाठक भ्रमित हो जाते हैं। आपने उक्त लेख से दो महत्वपूर्ण अंशों को निकालकर उन्हें हिंदी की युवा कविता के विपक्ष में खड़ा किया है। क्या सच में विजय कुमार जी ऐसे हैं? मैं उनका पाठक हूं और उन्हें हिंदी के महत्वपूर्ण कवियों में गिनता हूं वाद–विवाद व संवाद की परंपरा का निर्वाह करना तो ठीक है, लेकिन किसी दुराग्रह के वशीभूत किसी रचनाकार की छवि को खराब करना अनैतिक है। उसके चरित्र–हनन के तुल्य है।

विजयकुमार कवि होने के साथ–साथ बहुपठित समालोचक भी हैं। उनका संवेदन, चिंतन, उनकी भाषा, उसका निर्वाह हिंदी की वर्तमान समालोचना में एक ताजगी का एहसास कराता है। आप 'नया ज्ञानोदय' के अंकों में ही उनके प्रकाशित लेखों को ही देख लें। रही बात उनके विवादित लेख की, उनसे कई मुद्दों पर असहमत हुआ जा सकता है। परंतु वह लेख किसी भी सूरत में हिंदी की युवा कविता के विरोध में नहीं जाता। लेख का मूल आशय ही ऐसा नही।

हां, उन्होंने हिंदी में व्याप्त दिल्लीवादी दादागिरी की ओर इशारा जरूर किया है। पतनशीलता की ओर ध्यान दिलाया है। अस्मिता और अस्तित्व के संकट, समकालीन कविता की मूल्यागत चेतना और हिंदी प्रदेश की विविधवर्णी विशेषताओं को चिन्हित किया है।

कुल मिलाकर 'नया ज्ञानोदय' जैसी पत्रिका के संपादक को, जो कि स्वयं भी एक प्रतिष्ठित रचनाकार है, किसी लेखक के आत्म–सम्मान के साथ खिलवाड़ करने की आदत से परहेज ही करना चाहिए। कृपया इसे मेरी आहत् चीत्कार ही समझें, सीख नही। ऐसी मेरी हैसियत भी नहीं। अन्यथा आप विजयकुमार से उनके लेख में मेरे नाम को लेकर आपत्ति ही नहीं करते–''यह अग्निशेखर कब से कवि हुआ?''

आपका

अग्निशेखर, जम्मू

'नया–ज्ञानोदय' के संपादक रवीन्द्र कालिया द्वारा जो विवाद खड़ा किया गया है उसकी उठ रही बू से पाठक व लेखक अब परेशान से हैं। लंदन से महेन्द्र राजा जैन द्वारा लिखी गयी चिट्ठी इसकी मिसाल है।

श्री स्वतंत्र मिश्र जी,

'राष्ट्रीय सहारा' एवं 'दि संडे पोस्ट' में 'नया ज्ञानोदय' के सम्बन्ध में छपे आपके दोनों लेख मिले हैं। आभारी हूं।

कालिया जी के सम्बन्ध में मेरी धारणा शुरू से रही है और हाल की घटनाओं से इसकी पुष्टि ही हुई है कि वे कभी भी अपनी गलती नही मानते। कोई अगर उनका ध्यान किसी गलती की ओर दिलाए भी तो वे 'भूल–सुधार' करने के बजाय उसी गलती को सही साबित करने के लिए और भी जोर–शोर से दूसरी गलती करेंगे।

''धर्मयुग'' में एक बार लंदन सम्बन्धी कोई लेख छपा था। उसमें कुछ तथ्यात्मक गलतियों की ओर मैंने धर्मवीर भारती का ध्यान दिलाया तो उन्होंने बड़ी ही शालीनता से गलती मानते हुए लिखा कि इस प्रकार की गलतियां नहीं होनी चाहिए थीं।

पत्रिकारिता कालिया जी ने भारती जी से सीखी है, पर वे यह बात क्यो नहीं सीख सके। इलाहाबाद से कुछ वर्ष पूर्व 'गंगा जमुना' नामक स्थानीय साप्ताहिक निकलता था। एक बार कालिया जी ने जोर–शोर से सूचना प्रकाशित की कि आगामी अंक में संगम स्थित बड़े हनुमान जी की प्रतिमा का बड़े आकार का फोटो छापा जाएगा। साथ ही यह भी लिखा कि इस प्रतिमा का फोटो खींचने पर प्रतिबंध है और पहली बार 'गंगा जमुना' के पाठकों के लिए विशेष रूप से यह फोटो खींचने की अनुमति ली गयी है।

मैंने तुरन्त ही इसका प्रतिवाद करते हुए उन्हें लिखा कि हनुमान जी की प्रतिमा के फोटो के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है वह गलत है क्योंकि उसके पूर्व मैं ही नहीं और भी कई लोग वहां फोटो खींच चुके हैं और फोटो खींचने पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की गयी। और तो और, एक बार उस प्रतिमा की पृष्ठभूमि में करीब आधा घंटे तक एक विवाह समारोह की रिकार्डिंग भी की गयी थी

कालिया जी ने न केवल यह पत्र ही दबा दिया वरन् उसके बाद भी काफी जोर–शोर से उस फोटो के सम्बन्ध में प्रचारित करते रहे कि फोटो पहली बार लिया गया है, अतः संग्रहणीय है। निश्चय ही पत्रिका के उस अंक की बिक्री बढ़ाने के लिए ऐसा किया गया था। पाठकों को भ्रम में डालने की यह तो बहुत ही साधारण सी बात थी। उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास का संभवतः सबसे बड़ा 'ब्लंडर' तो तब किया

जब 'वागर्थ' में एक सम्पादकीय के माध्यम से हिन्दी जगत को सूचना दी कि 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में हिन्दी भाषा और साहित्य सम्बन्धी कोई सूचना नहीं है। यह हिन्दी साहित्य का और हिन्दी जगत का अपमान है। इन्होंने विदेश मंत्रालय और संस्कृति मंत्रालय के साथ ही सभी हिन्दी संस्थाओं और विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों आदि को लिख कर 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के विरूद्ध आंदोलन छेड़े जाने की बात भी लिखी थी और हिन्दी प्रेमियों से अपील की थी कि 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' को पत्र लिख कर वे भी अपना विरोध जाहिर करें।

मेरी धारणा है कि कालिया जी जो रचनाएं छापते हैं वे सभी नहीं पढ़ते। अधिकांश रचनाएं लेखकों के नाम देख कर ही प्रेस में दे देते हैं। 'वर्तमान साहित्य' के तथाकथित कहानी महाविशेषांक का सम्पादन उन्होंने किया था। उसकी समीक्षा 'सण्डे आब्जर्वर' के लिए मैंने लिखी थी। मैंने लिखा था कि जिस प्रकार सभी अभिनेता सफल निर्देशक नहीं हो सकते उसी प्रकार सभी कहानीकार सफल सम्पादक नहीं हो सकते। उसके बाद मैंने विशेषांक में प्रकशित एक–के–बाद एक कई रचनाओं में ऐसी तथ्यात्मक भूलों की ओर ध्यान दिलाया जिनमें पता चलता था कि वे लेखकों के अज्ञान की परिचायक तो हैं ही, उनसे यह भी पता चलता था कि सम्पादक ने उन्हें या तो पढ़ा ही नहीं है और अगर पढ़ा भी हो तो उसे उस विषय का ज्ञान नहीं है।

इसी प्रकार उनके सम्पादन में निकले 'वागर्थ' के प्रथम दो अंकों को देख कर मैंने उन्हें लंदन से एक लम्बा पत्र लिखा जिससे उनमें प्रकाशित कुछ रचनाओं में कुछ गलतियों की ओर ध्यान दिलाया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह पत्र रद्दी की टोकरी में डाल दिया गया जबकि 'वागर्थ' के प्रायः प्रत्येक अंक में चार–पांच पृष्ठ पाठकों के प्रशसात्मक पत्रों से भरे रहते थे।

मेरी इस धारणा की पुष्टि उनके सम्पादन में निकले 'नया ज्ञानोदय' के प्रथम दो अंकों को देख कर और भी पुख्ता हुई। इन अंकों में छपी कुछ रचनाओं में हुई तथ्यात्मक भूलों के साथ ही वाक्य विन्यास, व्याकरण, शब्दों के प्रयोग में एकरूपता का अभाव तथा विराम चिह्नों के गलत प्रयोग के सम्बन्ध में मैंने उन्हें एक लम्बा पत्र लिखा। उस पत्र का जरा सा अंश उन्होंने केवल इसलिए छापा कि उसकी प्रति मैंने भारतीय ज्ञानपीठ के प्रबंध निदेशक को भी सूचनार्थ भेज दी थी पर उन्होंने वह अंश इस प्रकार छापा कि पाठक समझ ही नहीं पाए कि मैं कहना क्या चाहता था। शायद इसे भी उनकी सम्पादन कुशलता ही कहना चाहिए।

हद तो तब हो गयी जब उसके बाद के अंक में भारतीय ज्ञानपीठ के पूर्व निदेशक एवं 'नया ज्ञानोदय' के (पूर्व) यशस्वी सम्पादक प्रतिष्ठित आलोचक एवं निबन्धकार डा. प्रभाकार श्रोत्रिय के सम्बन्ध में एक बहुत ही अपमानजनक टिप्पणी छाप कर उन्होंने स्वयं ज्ञानपीठ के मालिकों की निर्णयात्मक क्षमता पर ही प्रश्न चिह्न लगा

दिया। इस सम्बन्ध में भी उन्होंने अपनी गलती न मानते हुए केवल यह कह कर पल्ला झाड़ लिया कि लेखकों को कुछ भी लिखने की स्वतंत्रता है यानी लेखक यदि उन्हें और ज्ञानपीठ के ट्रस्टियों को गाली भी दे तो वे आंख मूंद कर छापेंगे।

यह पत्र लिखते हुए अभी–अभी नासिरा शर्मा के सम्बन्ध में भी पता चला है। उनकी शालीनता तो यह होती कि वे अगले ही अंक में सम्पादकीय लिख कर अपनी गलती मान लेते पर उन्होंने अपनी गलती मानना सीखा ही कभी न। मुझे याद है कि भारतीय ज्ञानपीठ के ही मालिकों के समाचार पत्र 'नवभारत टाइम्स' में साहू शान्ति प्रसाद जी के जीवन काल में एक बार 'मुर्ग मुसल्लम' बनाने की विधि छप गयी थी जिसे लेकर पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने किसी पत्रिका में आक्षेप करते हुए लिखा था कि अब जैन मालिकों के समाचार पत्र द्वारा लोगों को मांसाहार खाना भी सिखाया जा रहा है। यह पढ़ कर शान्ति प्रसाद जी को इतना दुख हुआ कि शायद तत्कालीन सम्पादक को इसी कारण अपने पद से हटना पड़ा।

भारतीय ज्ञानपीठ से मेरा सम्बन्ध 50 वर्ष से अधिक समय से है जब इसकी स्थापना बनारस में हुई थी। उसी समय महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, फूल चन्द सिद्धान्तशास्त्री और मुनि कान्तिसागर के सम्पादन में 'ज्ञानोदय' का प्रकाशन शुरू हुआ था। प्रथम अंक से ही यह अपने समय की ऐसी पत्रिका बन गयी जिसे उस समय के प्रायः सभी प्रतिष्ठित लेखकों–साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त था। कुछ वर्ष बाद कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने इसे अमेरिका की 'लाइफ' पत्रिका का रूप देना चाहा और इसके लिए 'डमी' के रूप में एक नमूना भी निकाला गया जिसे देख कर हिन्दी जगत का स्तंभित हो उठना स्वाभाविक था। किसी ने कभी सोचा भी नहीं होगा कि हिन्दी में भी 'लाइफ' जैसी पत्रिका निकाली जा सकती है। पर किसी कारण वह योजना कार्यरूप नहीं ले सकी और कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के सम्पादन में साहित्यिक पत्रिका के रूप में ही इसका प्रकाशन होता रहा। बाद में इसका प्रकाशन जगदीश के सम्पादन में कलकत्ता से शुरू हुआ, शायद उसी समय राजेन्द्र यादव भी इससे जुड़े। उस समय 'ज्ञानोदय' ने शीघ्र ही एक विशिष्ट साहित्यिक पत्रिका का स्थान ले लिया। उस समय 'कल्पना' 'ज्ञानोदय' और 'धर्मयुग' ये तीन ऐसी पत्रिकाएं मानी जाती थीं जिनमें छप पाना किसी लेखक के लिए गौरव की बात होती थी।

बाद में किन्हीं कारणों से 'ज्ञानोदय' का प्रकाशन बन्द हो गया। अभी कुछ वर्ष पूर्व जब 'नया ज्ञानोदय' के रूप में डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय के सम्पादन में इसका प्रकाशन फिर शुरू हुआ तो शायद ही कोई पाठक होगा जिसने इसमें प्रकाशित रचनाओं की स्तरीयता के सम्बन्ध में उंगली भी उठायी हो। प्रभाकर श्रोत्रिय के सम्पादन में निकलने वाला 'नया ज्ञानोदय' किसी भी प्रकार के वाद–विवाद से दूर हिन्दी का एक विशिष्ट प्रतिष्ठित प्रकाशन था जिसके प्रत्येक अंक की बड़ी उत्सुकता

से प्रतीक्षा की जाती थी। उसके बाद रवीन्द्र कालिया ने जब से इसका सम्पादन शुरू किया है यह एक के बाद एक कि सकी न किसी कुत्सित विवाद में फंसता गया है। अभी भी इसके प्रत्येक नए अंक की प्रतीक्षा की जाती है पर उसमें प्रकाशित रचनाओं की विशिष्टता के लिए नहीं, वरन यह जानने के लिए कि इस बार सम्पादक ने कौन सा नया विवाद शुरू किया है या किसी पगड़ी उछाली गयी है। रवीन्द्र कालिया के सम्पादन में निकलने वाले प्रथम अंक का बड़े जोर–शोर से विज्ञापन किया गया था पर पहले अंक से ही 'बड़ा शोर सुनते थे पहलू में दिन का... 'तक ही बात रह गयी। अब यही सुनने को मिल रहा है कि 'नया ज्ञानोदय' को कालिया जी ने चौपट कर दिया है। बन्दर को अदरख के स्वाद का पता कैसे चल सकता है? 'नया ज्ञानोदय' के वर्तमान सम्पादक के सम्बन्ध में पत्र–पत्रिकाओं में अब तक बहुत कुछ पढ़ने को मिला है, पर वर्तमान कार्यकारी निदेशक द्वारा भारतीय ज्ञानपीठ की प्रतिष्ठा का मजाक किस प्रकार उड़ाया जा रहा है, यह बहुत कम लोगों को पता होगा।

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशनाधीन 'जैनेन्द्र रचनावली' के सम्बन्ध में मैंने वहां के प्रबन्ध न्यासी साहू अखिलेश जैन को एक पत्र लिखा था। लगभग दो माह तक उत्तर नहीं मिलने पर मैंने उन्हें फिर लिखा कि ऐसी स्थिति में मेरे लिए कार्य करते रहना संभव नहीं होगा। अखिलेश जी ने वह पत्र कार्यवाही के लिए कार्यकारी निदेशक के पास भेज दिया। कार्यकारी निदेशक रवीन्द्र कालिया का जो पत्र मुझे मिला उसे पढ़कर मैंने माथा पीट लिया। यह पत्र कार्यकारी निदेशक की अक्षमता का ज्वलंत प्रतीक तो है ही, भारतीय ज्ञानपीठ की गरिमा के अनुकूल भी नहीं है। भारतीय ज्ञानपीठ के लिए क्या इससे भी अधिक शर्म की कोई बात हो सकती है कि जिस व्यक्ति को पिछले वर्षों से उसके द्वारा किए जाने वाले कार्य के लिए बराबर भुगतान किया जा रहा हो उसे कार्यकारी निदेशक लिखे कि उसे समझ में नहीं आ रहा है कि वह क्या कार्य कर रहा है। यानी निदेशक महोदय ने बिना फाइल देखे, बिना कोई पत्र पढ़े ऐसी बात लिख दी। यदि कार्यकारी निदेशक मुझे ऐसा पत्र लिख सकते हैं तो सोचा जा सकता है कि अन्य लोगों को भी किस प्रकार के पत्र लिखते होंगे।

साहू शान्ति प्रसाद जी ने अपनी पत्नी श्रीमती रमा जैन की प्रेरणा से भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना की थी। उनकी छत्रछाया में उनके निदेशन में भारतीय ज्ञानपीठ ने केवल हिन्दी ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय साहित्य जगत में जो प्रतिष्ठा प्राप्त की उसकी मिसाल मुश्किल है। आज उसी संस्था की यह दुर्गति देख कर, उसकी प्रतिष्ठा धूमिल होती देख कर सभी साहित्य प्रेमियों को दुख होना स्वाभाविक है। क्या इस सम्बन्ध में कुछ नहीं किया जा सकता है, विचार करें।

—महेन्द्र राजा जैन

आखिर ऐसा क्या कह दिया विजय कुमार ने!

—निरंजन श्रोत्रिय

यह टिप्पणी लिखते समय एक गहरा संकोच मन में है। यदि विजय कुमार मेरी कविता 'जुगलबंदी' पर 'नया ज्ञानोदय' (मार्च 2007) में इतनी लम्बी टिप्पणी नहीं करते तो यह सब सहज रूप से लिख सकता था क्योंकि जैसा कि अपना हिन्दी समाज है उसमें हर षड्यंत्र, ईर्ष्या, कानाफूसी, चापलूसी, सिफारिश, प्रयोजनाओं, पक्षपात और अफवाहों के लिये तो जगह है लेकिन गम्भीर विमर्शों के लिये कतई नहीं। मानों, सहृदयता तो सरक कर न जाने किस हाशिये पर चली गई है। बचे हैं तो केवल राग–द्वेष, गलाकाट प्रतियोगिता, विज्ञापन, प्रमोशन, लॉबिंग, प्रहार और असहिष्णुता! क्या साहित्य की किस्मत में यही सब बचा है और क्या इसी के जरिये हम एक बेहतर समाज की कल्पना कर रहे हैं? इस समय विजय कुमार को जिस तरह 'युवा लेखन के दुश्मन' की तरह प्रोजेक्ट किया जा रहा है वह नितान्त आपत्तिजनक है। बिना उस लेख के मर्म, उद्देश्य और एक आलोचक के स्वप्न को समझे जो उस रचना के मूल में है। खेद है कि कर्मेन्दु शिशिर के अलावा कोई ऐसा बंदा आगे नहीं आया जो सही को सही गलत को गलत कह सके। क्या इसलिए कि हमारा उद्देश्य साहित्य और कला के जरिये बेहतर और मानवीय समाज की स्थापना नहीं कुछ और है! हमें क्या करना' के तटस्थ और ठंडे भाव के लिहाफ को ओढ़े हम अपने को सुरक्षित और प्रसन्न महसूस कर रहे हैं।

सवाल यह है कि आखिर विजय कुमार ने ऐसा क्या कह दिया उस लेख में कि तमाम हिन्दी–जगत में आग (प्रायोजित) लग गई। क्या वाकई वह लेख युवा लेखन को इतना अपमानित कर रहा है कि उसे हम कोरी गप, निरी बकवास, चरित्र–हनन और असहृदय मान कर घूरे पर फेंक दें और एक गम्भीर तथा उत्तरदायी विमर्श की संभावनाओं को लगभग निजी राग–द्वेष के कारण उपेक्षा के ठंडे बस्ते में डाल दें। अब तक हमने कई बार ऐसा किया है और नुकसान उठाया है। आखिर हमें क्या हक पहुंचता है कि एक गंभीर और प्रबुद्ध आलोचक की बातों को सन्दर्भो से काट–काट कर यहां–वहां उछालें, उन्हें मिस कोट' करें या मनमाने निष्कर्ष निकाल कर युवा–पीढ़ी और पाठकों को दिग्भ्रमित करें!

अब यह तो सभी जान गये हैं कि उस लेख को जबर्दस्ती बहस में घसीटा गया है। 'नया ज्ञानोदय' के उसी अंक के संपादकीय में एक के बरक्स दूसरे के

खिलाफ वातावरण बनाने, अगले अंक में युवा लेखकों द्वारा लेख को अप्रासंगिक करार करवाने, विजय कुमार के लेख के महत्वपूर्ण अंशों पर कैंची चलाने, उसे पारदर्शिता के नाम पर सार्वजनिक करने के कृत्य इसके प्रमाण हैं। जाहिर है फिर किसी गंभीर बहस की गुंजाइश कहां बचती है? साहित्यिक, पत्र–पत्रिकाओं में बहसें होना तो आम बात है लेकिन उसके शालीन तरीके हैं। क्या यह बेहतर नहीं होता कि कम–से–कम एक अंक तक तो पाठकों, लेखकों की प्रतिक्रियाओं की प्रतीक्षा की जाती। उस लेख के टेक्स्ट को सोचा–समझा जाता और फिर उस पर विमर्श होता। बहस के लिए यह उतावलापन क्यों? और फिर अभी मैं इंटरनेट पर 'नया ज्ञानोदय' का नया अंक देख रहा था। जितनी हड़बड़ी में यह बहस शुरू की गई थी उसी हड़बड़ी के साथ इसे समेटने की कोशिश की गई – बगैर किसी ठोस, तरल या इवन वायनीस निष्कर्ष के। पाठकों का समय बर्बाद... युवा पीढ़ी और अधिक भ्रमित। खाया–पिया कुछ नहीं ... गिलास तोड़ा...।

सबसे ज्यादा बवाल विजय कुमार की इस टिप्पणी पर मचाया जा रहा है कि युवा पीढ़ी अपने पूर्ववर्ती कवियों की नकल कर रही है। उदाहरण के लिए विष्णु खरे की कविता के लफ़्ज़ों के बजाय उसके अभिप्राय का महत्व अधिक होता है। दुष्प्रचारित किया गया कि यह आरोप समूची युवा कविता पर है। क्या विजय कुमार जैसा आलोचक' चिंतक ऐसा जनरलाइज्ड वक्तव्य दे सकता है? आप देखें, उन्होंने कहा – "इधर बहुत सारे युवा कवि विष्णु खरे से बेहद प्रभावित हैं और नकल में बहुत बुरी कविताएं लिख रहे हैं।" अब 'बहुत सारे' और 'सभी' के बीच का अंतर बताना पड़ेगा क्या! और यह कोई नई समस्या नहीं है। हर बड़ा कवि अपने बाद के कवियों को प्रभावित करता ही है। क्या हमारी कविता पर समय–समय पर निराला, मुक्तिबोध, धूमिल, रघुवीर सहाय, विनोद कुमार शुक्ल वगैरह का प्रभाव नहीं पड़ा? क्या दुष्यंत के बाद हिन्दी ग़ज़ल का स्वरूप नहीं बदला? यह तो विकास की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। यहां विजय कुमार की चिन्ता प्रभाव को नहीं बल्कि नकल को लेकर है।

विजय कुमार को लेकर दूसरा उत्पात यह मचाया गया है कि उन्होंने वर्तमान साहित्यिक परिदृश्य को विमोचन, सम्मान–पुरस्कार, परनिंदा, उखाड़–पछाड़ वाला बताया है। उनके अनुसार हिन्दी में इतना अगंभीर, झूठा और प्रदर्शनकारी वातावरण पहले कभी नहीं रहा! अब ज़रा दिल पर हाथ रख कर बतायें कि क्या गलत कहा, उन्होंने? क्या, चल रहा है इन दिनों! कभी भी दिल्ली या भोपाल में कोई भी किसी को भी 'मुक्तिबोध की परम्परा का कवि' घोषित करने पर तुला है। भाई, यह उतावलापन तो युवाओं में हो सकता है। वह वयोचित है लेकिन आप तो ...।

दिल्ली को लेकर भी खिल्ली उड़ाई जा रही है। दरअसल यह सब पंक्तियों

के सतही पाठ का परिणाम है। लोग विजय कुमार की दिल्ली में वहां का भूगोल और वहां के चेहरे ढूंढ रहे हैं जबकि उसका स्फीयर बहुत बड़ा है। वह सत्ता, पॉवर, शक्ति, राजनीति और मॉनिटरिंग को व्यक्त करने वाली संज्ञा है। वह उस प्रवृत्ति की ओर इशारा है जो चीजों को अपने अनुसार चलाना चाहती है। क्या किसी भी दशा में भारत जैसे बहुलतावादी देश में किसी एक शक्ति–पीठ से आप साहित्य–संस्कृति का स्वस्थ वातावरण बना सकते हैं? पहले कितने नाम थे ... जैसे कि भोपाल ... या इलाहाबाद ... या बनारस...या उज्जैन...! अब सभी दिल्ली में समाहित है जबकि दिल्ली बेचारी पहले ही इतनी व्यस्त–त्रस्त है।

हिन्दी समाज के जिस 'नॉन सीरियस' वातावरण की चर्चा विजय कुमार ने अपने लेख में की है उसका ताजा प्रमाण देखना हो तो इस समय वेबसाइट पर हिन्दी में चल रही बहस की भाषा और तेवर देख लें। सिवाय गाली–गलौज, धमकी और अहंकारी फतवों के वहां कुछ भी गम्भीर नहीं है। जो गम्भीर है वह इस गंदगी के कुहासे में ढंक गया है। यदि यही सब चलता रहा तो जल्द ही साहित्य और पोर्नो वेबसाइट्स में कोई फर्क नहीं रह जाएगा।

विजय कुमार के लेख के 'सेन्सर्ड अंश' में स्पष्ट किया गया है कि हिन्दी का वह ऐसा दौर है जब किसी युवा कवि की प्रशंसा तो छोड़ो, उसकी आलोचना करने में भी किसी की दिलचस्पी नहीं। सब एक सयानी चुप्पी ओढ़े बैठे रहते हैं। क्या यह हमारे ठंडे आलोचना परिदृश्य पर सटीक टिप्पणी नहीं? अभी 'विष्णु खरे का एक इंटरव्यू 'संगत' में प्रकाशित हुआ है जो मैंने कभी उनके गुना आगमन पर लिया था। उसमें उन्होंने साफ तौर पर कहा है कि 'ये एक विचित्र ट्रेंड है कि हमारे यहां लोग अपने समकालीनों पर कुछ नहीं लिख रहे। मुझे डर है कि इसका सम्बन्ध एक 'पैराडाइम शिफ्ट' से न हो जो आप देखते हैं पश्चिम में। पश्चिम का क्रियेटिव लेखक बहुत कम समीक्षा लिखता है। यहां तक कि वो अपने समकालीनों के बारे में मौखिक बात करने से भी कतराता है। कहीं ये हमारे यहां आ तो नहीं रहा? और ये एक बहुत बड़े साहित्यिक कल्चर का शिफ्ट मानूंगा मैं, यदि ऐसा है तो।' दरअसल विजय कुमार के इस लेख से वाकई एक बड़ी और सार्थक बहस उठाई जा सकती थी ... आज की रचना, रचनाकार और आलोचना से उसके रिश्तों को लेकर। और भी कई बातें थीं ... लेकिन दुखद है कि उसे लगभग एक अंधी सुरंग की ओर मोड़ दिया गया।

जहां तक 'नवोदित' (यदि यह हल्का संबोधन है तो उसे 'नवान्न', 'कोपल', नवांकुर' कुछ भी कह लें) के उतावलेपन का सवाल है, यह युवा मनोविज्ञान का सहज हिस्सा है। इसी के साथ विजय कुमार ने समय के मनोविज्ञान की पड़ताल करने की भी सार्थक कोशिश की है जिसे समझा नहीं गया। नवोदित की यह याचना कि 'प्लीज,

मेरी इस कविता पर आप संपादक के नाम पत्र लिख दीजिये ...' हास्यास्पद होते हुए भी मार्मिक उदाहरण है। यहां पर हमें अपने समय के दबावों, उसकी संरचना और मांग पर विचार करना होगा। दरअसल यह उतावलापन केवल युवा कवियों की नहीं बल्कि समूची युवा पीढ़ी की समस्या हैं। मैं कॉलेज में पढ़ाता हूं ... हमेशा युवा पीढ़ी के संपर्क में रहना मेरे काम का हिस्सा है। जब मैं इस पीढ़ी की अधीरता को देखता हूं, उसकी बेचैनी और महत्वाकांक्षा का जायजा लेता हूं तो लगता है कि वाकई यह पीढ़ी बहुत जल्दी में है। अब आप लाख इन्कार करें लेकिन यह सच है कि आज की पीढ़ी के सामने सबसे बड़ा सच अपना कैरियर है। यह एक मूलतः कैरियरिस्ट पीढ़ी को एक वस्तुरूप में तब्दील किया है। इन सबने कुल मिला कर हमारे समय और समाज को यांत्रिक और केलकुलेटिव बनाया है। यदि आप हमें कुछ दे नहीं सकते तो फिर हमारे पास आपके लिए एक मिनट का समय भी नहीं है। और यह व्यग्रता आज अचानक नहीं आई, जबसे भूमण्डलीकरण के नाम से जो कल्चर हमारे यहा आया है, यह उसका परिणम है। हमें रातों–रात सब कुछ चाहिए। मेरा एक छात्र बहुत बिन्दास ढंग से मेरे इतने पढ़ने–लिखने पर भी मेरे मासिक वेतन (पच्चीस हजार रूपये) पर 'दुखी' हो रहा था। वह मेरी पढ़ाई, मेरी नौकरी (लगभग पच्चीस वर्ष) का हिसाब लगाकर कह रहा था कि सर, आपका 'पैकेज' तो कायदे से टेन पाइंट फाइव से अधिक होना चाहिए था। मैंने कहा कि मैं इसमें संतुष्ट बल्कि सुखी हूं। तो वह 'कायदा' हमारे इस समय का सच है जिसकी ज़द में समूची युवा पीढ़ी है। अब नया कवि किसी और दुनिया से तो नहीं आ रहा। इस बात को क्यों नहीं समझते हम लोग! लेकिन यह भी सही है कि साहित्य की दुनिया उस तरह से 'इंस्टेन्ट' नहीं है जैसे कि इस युग की और चीज़ें! वह चाहे अतिरंजित प्रशंसाएं हों या फिर घोर उपेक्षा–अपमान, दोनों युवा पीढ़ी के लिए घातक हैं। चार दंड पेल कर अपनी भुजाएं तौलने वाली युवा पीढ़ी के लिए क्या विजय कुमार की ये सहज और सहृदय चिन्ता नहीं है?

हिन्दी में पुरस्कारों–सम्मानों की जो स्थिति है वह अब बहुत स्पष्ट है। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो कोई भी पुरस्कार–सम्मान विवादों से परे नहीं है। उन्हें पाने और देने के युक्तियों के तो क्या कहने। 'वह पैंतीस का हुआ जा रहा है ... इस बार उसे दे दो ... अस्पताल में भरती हैं ... उन्हें दे देना चाहिए... उसे दे दो वरना उधम मचाएगा' जैसे वाक्यांश आपको इन पुरस्कारों की गलियों में सहज ही सुनने को मिल सकते हैं। अब इन पुरस्कारों से साहित्य, जनता या खुद लेखक का कितना भला होता है, यह एक अलग प्रश्न है लेकिन इनके पीछे जो गलाकाट मारामारी है उससे बचने की नेक सलाह विजय कुमार ने दी थी क्योंकि यह कितना भी घिसा हुआ और पारंपरिक वाक्य हो लेकिन आजमाया हुआ सच है कि साहित्य का क्षेत्र दीर्घ साधना का क्षेत्र है। अपने को मिटा देने की कीमत पर किया जाने वाला एक पूर्णकालिक काम!

दरअसल युवा कविता की समस्याओं, संघर्षों और उद्देश्यों को समझने के पहले युवा मानसिकता को समझना बहुत जरूरी है। विजय कुमार की चिन्ता भी यही है कि इस मानसिकता और समय को समझने और दिशा देने के लिए हमारी आलोचना के पास कोई औजार ही नहीं है। अब यदि विजयजी के अनुसार नहीं है तो उन्हें अपने बीच से ही पैदा करना होगा। यह हमारी सबसे बड़ी चिन्ता होना चाहिए। यही व्यग्रता नवोदित में भी है कि– 'आप लिखकर मर जाइये, कोई आपका नाम नहीं लेगा!' यह सही है। हमारी हिन्दी जगत का हाजमा बहुत अच्छी और स्मृति बहुत कमजोर है। वह अच्छों–अच्छों को पचा जाती है। हमने प्रसन्न कुमार चौधारी की प्रबंध कविता 'सृष्टि चक्र' को पचा लिया ... उदय प्रकाश को उनकी कहानियों समेत पचा लिया... नागानंद मुक्तिकंठ की कविता 'बॉम्बे–हावड़ा मेल' को भुला दिया।

आज हमारे पास आलोचक क्यों नहीं हैं? जो हैं वो कितने यांत्रिक ढंग से बंधी–बंधाई शब्दावली में समीक्षाएं लिख रहे हैं ... अखबारी! अपवाद तो हैं लेकिन आज रचना आलोचना के केन्द्र में क्यों नहीं है? विष्णु खरे ने उसी इंटरव्यू में बहुत महत्वपूर्ण बात कही थी कि जब तक आपके भीतर रचना को लेकर जुनून नहीं है तब तक आप आलोचना में कुछ नहीं कर सकते। जब तक आप एक रचना को प्रेम नहीं करते ... उसे पढ़ कर झूम नहीं जाते ... तब तक आप अच्छी आलोचना नहीं लिख सकते। यह भावुकता नहीं है यह है वह सहज प्रेम जो रचना को केन्द्र में रखकर साहित्य से किया जाता है। लेकिन लोग साहित्य से नहीं, उसकी पॉलिटिक्स से 'ऑब्सेस्ड' हैं।

रचना से आलोचना के इस प्रेम की प्रतीति मैंने बनारस के 'पहल सम्मान' में महसूस की जब लगभग सात सौ श्रोताओं की सभा में 'जुगलबंदी' का पाठ किया। उसके पहले मेरे विजय कुमारजी से केवल 'हाय–हैलो' के सम्बंध थे। समकालीन कविता पर उनकी किताब 'कविता की संगत' 1995 में आधार प्रकाशन से आई तो उसका अभूतपूर्व स्वागत और चर्चा हुई थी। यह किताब म. प्र. साहित्य परिषद के पाठक मंच (तब मैं गुना केन्द्र का संयोजक था) में भी सम्मिलित की गई थी और गुना में उस पर महत्वपूर्ण चर्चा भी हुई थी। मैंने यह किताब कई बार पढ़ी है और तभी से मैं उनकी आलोचना और समझ का कायल हूं। इतने गहरे जाने की कूवत हर किसी आलोचक में नहीं होती। इसे विष्णु खरे समेत कई लेखकों ने स्वीकारा है। लेकिन निजी तौर पर मेरा विजय कुमार से बहुत औपचारिक–सा परिचय था। जैसे कि जब उन्होंने 'उद्‌भावना' के कवितांक का संपादन किया तो मुझसे कविताएं मांगी,

मैंने भेज दी। बात खत्म! लेकिन कविता–पाठ के बाद जैसे ही मैं मंच से उतरा तो विजय कुमार और कर्मेन्दु शिशिर ने मुझे बाहों में भींच लिया। वहां और भी मित्रों का ऐसा ही भाव था जैसे कि 'उद्भावना' के संपादक अजेय कुमार ने कहा कि कविता का अंत सुनते–सुनते मेरा गला रूंध गया। नरेश चन्द्रकर, अग्निशेखर की भी यही प्रतिक्रिया थी। यह क्षण मेरे जीवन का एक अद्भुत क्षण था। कई लोगों ने मुझसे इस कविता की प्रति मांगी तो मैंने कहा कि यह तो 'पहल–78' में तीन साल पहले छप चुकी है। खैर, तब मुझे क्या पता था कि विजय कुमार अपने 'नया ज्ञानोदय' वाले लेख में इसका इतना लम्बा और आत्मीय ज़िक्र करेंगे इस कन्फेशन के साथ कि उस वक्त वे भी इस कविता को पढ़ने से चूक गये थे। और ऐसा नहीं कि उन्होंने पाठ के प्रभाव में आकर यह टिप्पणी की। उन्होंने फोन पर बताया कि वे 'पहल' में इस कविता को फिर से पढ़ रहे हैं। आप देखेंगे कि इतनी लम्बी टिप्पणी में उन्होंने केवल एक बार मेरा नाम लिया है–शुरू में। फिर पूरी बात वे कविता पर करते हैं। अब इस समय 'जुगलबंदी' और उस पर विजय कुमार–कर्मेन्दु शिशिर की टिप्पणियों पर जो बवाल मचाया जा रहा है उस पर मुझे कुछ नहीं कहना क्योंकि कवि को अपनी कविता 'डिफेंड' करना पड़े, उससे अधिक दयनीय कुछ हो नहीं सकता! यह काम हिन्दी के उत्तरदायी आलोचकों और पाठकों का है, उन्हें करने दीजिए। मुझे केवल इतना संतोष और प्रसन्नता है कि विजय कुमार ने मुझे नहीं बल्कि रचना को केन्द्र में रख कर बात की है। यह तो सभी जानते हैं कि मैं उन्हें क्या लाभ पहुंचा सकता हूं या बिगाड़ सकता हूं! हो सकता है कि कल को विजय कुमार की समझ पर सवाल उठा कर इस कविता को घूरे पर फेंकने के फतवे जारी कर दिये जाएं लेकिन यह क्या कम खुशी की बात है कि आज भी रचना को प्रेम करने वाले निस्वार्थ आलोचक हिन्दी में हैं। कविता के लिए ऐसा ही प्रेम मैंने विष्णु खरे के भीतर भी देखा जब वे हेमन्त कुकरेती या नीलेश रघुवंशी की कविता पर झूम रहे थे।

विजय कुमार के लेख को युवा लेखन का विरोधी मानने वालों को यह लेख अकेले में फिर से पढ़ना चाहिए, वह भी एकाग्रता के साथ और आप पाएंगे कि समूचा लेख उनके पक्ष में लिखा गया है। केवल झूठ–माट पीठ ठोंक देना ही सच्ची पक्षधरता नहीं होता। ऐसा तो बहुतेरे लोग हिन्दी में कर ही रहे हैं। सुबह नींद से जागे–दो को साहित्य से बाहर किया, चार को भरती किया ...। विजय कुमार का यह वाक्य कि 'सच तो यह है कि युवा कवियों की सर्जनात्मकता में हमारी कोई बुनियादी रूचि रह ही नहीं गई है क्योंकि सबको अपनी–अपनी पड़ी है' आखिर किसका पक्ष लेते हुए लिखा गया है? कात्यायनी, अष्टभुजा शुक्ल से लेकर कुमार वीरेन्द्र तक दसियों नाम जो उन्होंने लेख में लिए हैं क्या युवा कविता के नहीं हैं? लेकिन यदि एक आलोचक युवा लेखन के आसन्न खतरों के प्रति इस पीढ़ी को आगाह करने का जरूरी काम

कर रहा है तो क्या गुनाह कर रहा है?

स्मार्ट वाक्यों, शिल्प, चमकदार भाषा, आइडियावाद को लेकर विजय कुमार ने जिस 'कम्प्यूटर पोएट्री' की चर्चा की वह हम सीरीज़ में प्रकाशित कई कविताओं में पाते हैं। अभी मैं राजेश जोशी के घर पर बैठा था। यही बातें चल रही थी। राजेश ने एक संदर्भ में बहुत अच्छी बात कही कि सब कुछ मौजूद है लेकिन 'कविमन' नहीं है। आखिर इसी कविमन की तलाश ही तो पाठकों और विजय कुमार जैसे आलोचक को होती है। अन्यथा करते रहिये आप भाषा और शिल्प की हम्माली जिंदगी भर! उससे क्या होना है? इस संदर्भ में पता नहीं मुझे अपनी ही एक कविता उद्धृत करने का मन है। कविता का शीर्षक है – 'फार्मूले'!

एक फार्मूला लो और
राज करो
एक फार्मूला लो और
प्रजा की बने रहो
एक फार्मूला लो और
कविता बना लो
एक फार्मूला लो और ....
यह एक ऐसा देश है
जिसमें एक अरब लोग नहीं आठ–दस फार्मूले रहते हैं।

विजय कुमार साहित्य के उन चंद गंभीर अध्येताओं में से हैं। जिनकी चिन्ताएं साहित्य और कला की मूलगामी चिन्ताएं हैं। 'कविता की संगत' की भूमिका में उन्होंने लिखा था कि 'आज कविताएं बार–बार इस एक सवाल को अलग–अलग कोणों से उठा रही हैं कि एक मरणोन्मुख समाज में चीजें जब सिरे से गलत हैं तो फिर सब कुछ इतना सहज और साधारण क्यों मान लिया गया है? हम सामने दिखाई पड़ने के प्रति इतने भयावह रूप से असंवेदनशील और निर्लिप्त क्यों हैं? संस्कृति, इतिहास, विचार, संवेदना सबका एक खास तरह से केन्द्रीकरण हो रहा है। आज एक मोटी–सी बात जनमानस को समझाई जा रही है कि यह विशेषज्ञों और टेक्नोक्रेटों का समय है, कि मनुष्य के सामान्य ज्ञान और अपने समय के समाज को लेकर मूलगामी जिज्ञासाओं का अब कोई अर्थ नहीं है। ... वर्ग विभक्त समाज में कविता के समक्ष अपने अनुभवों, आत्मपरीक्षण और आत्मालोचना की भी चुनौती है।' अब मेरा सवाल है कि आज की युवा कविता को इन चुनौतियों से अलग किया जा सकता है? वरिष्ठ साहित्यकारों के पास तो बहुत–से अनुभव हैं (साहित्य और साहित्येतर दोनों) वे तो अपनी गाड़ी जैसे–तैसे निकाल ले जाएंगे लेकिन युवा मन तो वैसे भी भावुक

और कच्चा होता है। कहीं वह असल चुनौतियों को न पहचान कर तात्कालिक, क्षुद्र प्रलोभनों में फंस गया तो एक अपरिमित उर्जा गलत दिशा में चैनेलाइज़ हो सकती है। इसलिए 'वज्र से भी कठोर' करार दिए गए विजय कुमार के भीतर छुपी 'कुसुम की कोमलता' को पहचाना जाना चाहिए। खैर, अब बात खत्म करता हूं विजय कुमार की नई पुस्तक 'अंधेरे समय में विचार' में प्रकाशित **तादेउष रूज़ेविच** की इन पंक्तियों से ...

कृपया इस बात को समझो
कि बहुत से लोग यहां है
और भी बहुत से आएंगे
थोड़ा उधर सरको
जगह दो
प्यारे आदमखोरो!

अब युवा पीढ़ी ही तय करे कि यह जगह किसके लिए मांगी जा रही है!

वो बात सारे फसाने में जिसका ज़िक्र न था ..

–राजेश जोशी

नया ज्ञानोदय के युवा पीढ़ी विशेषांक : एक में युवा कविता पर विजय कुमार के लेख पर संपादकीय में रवीन्द्र कालिया की टिप्पणी संपादकीय नैतिकता और आचार संहिता पर सोचने को बाध्य करती है। हर पत्रिका की तरह नया ज्ञानोदय में भी प्रारंभिक पृष्ठों पर एक पंक्ति छापी जाती है कि प्रकाशित रचनाओं के विचार से भारतीय ज्ञानपीठ का सहमत होना आवश्यक नहीं है। इस पंक्ति का क्या अर्थ है? मुझे लगता है इस पर विचार अक्सर नहीं होता। कहीं न कहीं यह पंक्ति इस बात को कहने की कोशिश करती है कि पत्रिका में इतनी जनतान्त्रिक स्पेस मौजूद है जिसमें संपादक या प्रकाशन संस्थान की असहमति के बावजूद एक रचना अपनी रचनात्मक श्रेष्ठता के आधार पर प्रकाशित हो सकती है कि वैचारिक बहुलता के लिये पत्रिका में गुंजाइश बाकी है। विजय कुमार के लेख पर उसी अंक के संपादकीय में आलोचनात्मक टिप्पणी करने की हड़बड़ी में रवीन्द्र कालिया ने संपादकीय आचार संहिता और नैतिकता को बराये ताक रख दिया। मेरे मन में यह सवाल बार बार

कौंधता रहा कि क्या ये वही रवीन्द्र कालिया हैं जिन्होंने कभी धर्मयुग में सिकुड़ती चली गयी जनतान्त्रिक स्पेस और प्रक्रिया को लेकर काला रजिस्टर जैसी कहानी लिखी थी! कालिया क्या भारती जी की गलितयों को दोहराना चाहते हैं। हीगल के इस कथन में कि इतिहास अपने को दोहराता है, मार्क्स ने यह जोड़ा था कि पहली बार त्रासदी के रूप में और दूसरी बार प्रहसन की तरह। तो नया ज्ञानोदय क्या धर्मयुग का नया प्रहसन है!

विजय कुमार को संपादकीय में यह नसीहत देते हुए कि युवा पीढ़ी पर हल्ला बोल की जरूरत नहीं है, कालिया ने स्वयं इस गंभीर लेख पर हल्ला बोल दिया। पहले उन्होंने विजय कुमार के लेख के दो अंशों को बिना कारण संपादित किया, फिर अपने संपादकीय में बचकानी टिप्पणियां की और अगले चरण में युवा पीढ़ी विशेषांक : दो में तीन युवा रचनाकारों की प्रायोजित टिप्पणियां भी प्रकाशित कर डालीं। इस कालिया मार्का संपादकीय उपक्रम ने युवा कविता पर ही नहीं समकालीन कविता परिदृश्य पर शुरू हो सकने की संभावना से भरी एक बहस को बहस बनने से पहले ही समाप्त कर दिया। कहीं रवीन्द्र कालिया के अवचेतना में यह चिन्ता तो नहीं सिर उठा रही थी कि युवा कविता पर अगर गंभीर बहस शुरू हो गयी तो युवा कहानीकारों का नेतृत्व करने की उनकी मंशा कहीं आहत हो जायेगी। विजय कुमार के जवाब में कालिया ने वाराणसी के 'पहल' सम्मान में उपस्थित विजय कुमार की पीढ़ी के रचनाकारों को पिछलग्गुओं की रेजिमेंट करार दे दिया है। सौभाग्य से मैं भी इसी रेजिमेंट का एक फौजी हूं। लगता है 'गालिब छुटी शराब' के साथ कालिया जी की शराब ही नहीं, स्मृति भी छूटती जा रही है। क्या यह वाक्य लिखते हुए उन्हें इमरजेन्सी के दिनों में संजय गांधी और संजय सिंह के साथ अपने रिश्ते एक बार भी याद नहीं आये? पता नहीं कालिया जी की भाषा में उस रिश्ते को क्या कहा जाता है? मुझे लगता है साहित्य में ज्ञानरंजन का पिछलग्गू होना कम से कम उतना अपमानजनक तो नहीं है जितना आपतकाल में संजय गांधी और संजय सिंह जैसे नेताओं का पिछलग्गू होना था। रव्रींद कालिया मेरे अग्रज रचनाकार हैं, लेकिन उन्होंने यह सब कहने को बाध्य कर दिया है। लुंपनिज़्म और सेन्सेशनेलिज़्म को साहित्यिक पत्रकारिता का एक मूल्य बना देना आनेवाले समय में किसी गंभीर विचार विमर्श के लिए कोई गुंजाइश नहीं होगी। सिर्फ सनसनियां होंगी, आक्रामकता होगी, उचक्कापन होगा, उजड्डता होगी। और संपादक जैसा चाहेगा, वैसा होगा। वह किसी भी लेख या रचना का मनमाना अर्थ निकालने के लिए स्वतन्त्र होगा।

विजय कुमार के लेख में ऐसे कई मुद्दे थे जिन पर बहस हो सकती थी और असहमति भी। लेकिन विडम्बना यह है कि रवीन्द्र कालिया की टिप्पणी और युवा

रचनाकारों की टिप्पणियों में उठाई गई आपत्तियां विजय कुमार के लेख की मंशा है ही नहीं। इन आपत्तियों को देख कर मुझे फैज का एक शेर याद आ रहा है 'वो बात सारे फसाने में जिसका ज़िक्र न था वो बात उनको बहुत नागवार गुज़री है। काश कि कालिया युवा रचनाकारों की टिप्पणी छापने से पहले युवा रचनाकारों को विजय कुमार की दूसरी टिप्पणी – मैं वैचारिक असहमतियों से तनिक नहीं घबराता–पढ़वा देते। लेकिन संपादक महोदय को विजय कुमार के लेख पर हल्ला बोलने की कुछ ज्यादा ही जल्दी थी।

विजय कुमार ने अपने लेख के लिए एक नाटकीय फार्म चुना है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध की साहित्यिक की डायरी की याद आ सकती है। नाटकीयता के साथ ही एक प्लेफुलनेस भी है। इसलिए कुछ दिल्ली, से कुछ दिल्लीवालों से और कुछ आलोचकों से छेड़छाड़ भी है। इस लेख के तीन पात्र हैं उपाध्याय जी, मैं याने विजय कुमार खुद और एक नवोदित रचनाकार। ऐसा फार्म अक्सर रचनाकार तब चुनता है जब उसके अन्दर ही मुद्दों को लेकर एक बहस चल रही होती है। अगर रचनाकार रचना के बारे में अपनी धारणाओं को तय ही कर चुका है तो वह बहस के ऐसे नाटकीय फार्म को क्यों चुनेगा? दिलचस्प यह है कि इस नाटकीय फार्म में जो आपत्तियां युवा रचना के बारे में उपाध्याय जी उठा रहे हैं उन्हें तो विजय कुमार की आपत्तियां मान लिया गया लेकिन इन आपत्तियों का प्रतिवाद जो मैं नाम का पात्र करता है उसे विजय कुमार का वक्तव्य नहीं माना गया। इस बात पर भी गौर नहीं किया गया कि विजय कुमार ने कविता के परिदृश्य का पीढ़ियों के हिसाब से बहुत स्पष्ट विभाजन नहीं किया है। इसमें वर्तमान में लिख रहे कई पीढ़ियों के रचनाकार शामिल हैं। मसलन सत्तर के दशक में आये अरूण कमल वहां है। उनके बाद आये देवीप्रसाद मिश्र और कात्यायनी हैं। पिछली सदी के लगभग अन्तिम दशक में कविता में आये कवि आशुतोष दुबे, नीलेश रघुवंशी, मोहन डहरिया, आर चेतनक्रांति , निरंजन श्रोत्रिय और एकदम नये रचनाकारों में कुमार वीरेन्द्र जैसे कई कवि वहां एक साथ मौजूद हैं। दुर्भाग्यपूर्ण यह है कि इस लेख को गंभीरता से पढ़ा ही नहीं गया और तलवार भांजना शुरू कर दिया गया। ऐसे कई मुद्दे थे जिन पर गंभीरता से विचार किया जा सकता था। मसलन नये का अर्थ क्या हैं? युवा कविता का प्रस्थान बिन्दु क्या है? युवा रचनाकार पावर स्ट्रक्चर के खेल से परेशान और कन्फ्यूज्ड है। हिन्दी कविता का सौन्दर्यबोध एक बड़ी हद तक गैर पालिटिकल हो चुका है। ये ऐसे सवाल थे जिनके उत्तर सिर्फ युवा रचनाकारों को ही नहीं आज लिख रहे सभी रचनाकारों को खोजने की जरूरत है। गैर राजनीतिक होने का आरोप सिर्फ युवा कविता पर नहीं सारे परिदृश्य पर लगाया गया है। कई आपत्तियों का जवाब तो स्वयं इस लेख में

ही मौजूद है। गैर राजनीतिकरण हमारे समय की एक बड़ी फिनामिना है। कविता से बाहर भी इस सवाल को पूछे जाने की जरूरत है। क्यों हिन्दी और अंग्रेजी के सारे अखबार और न्यूज़ चैनल गैर राजनीतिक खबरों से भरे हुए हैं? ज्योतिष और सनसनियां उनका प्रमुख विषय बनी हुई हैं। क्या इस माहौल में आप एक दिनमान या रविवार जैसी पत्रिका की उम्मीद कर सकते हैं। अगर हम थोड़ा सा पीछे झांकें तो याद आयेगा कि सारे यूरोप के लिए एक मुद्रा – यूरो डालर बनाये जाने के समय भी यह बहस उठी थी कि अर्थनीति के निर्णयों को राजनीति से अलग कर दिया जाना चाहिए। भूमण्डलीकरण के नाम पर अमरीका मांग करता रहा है कि सभी मुल्कों को अपनी अर्थव्यवस्था को किसी भी राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त होना चाहिए। मुक्त बाजार के लिए यह आवश्यक है। ऐसे ही अनेक मुद्दे थे जिन पर बहस संभव हो सकती थी। अन्त में, इतना ही कहना चाहता हूं कि कालिया जी को याद होगा कि साठोत्तरी के रचनाकारों ने, जिसमें स्वयं कालिया जी भी हैं, ने एक समय व्यावसायिक पत्रिकाओं के रचना और रचनाकार विरोधी रवैयों के कारण, सभी रंगीन पत्रिकाओं का बहिष्कार किया था। क्या कालिया जी एक बार फिर वही सब दोहराने के लिए रचनाकारों को बाध्य करना चाहते हैं?

नॉन्सेंस ऑफ रूम्र– आपातकाल से 'तत्काल' सेवा तक

– कुमार मुकुल

रवीन्द्र कालिया की फितरतों से अनजान जिस तरह **हरे प्रकाश उपाध्याय** नया ज्ञानोदय के लिए अपने कॉलम **'तत्काल'** में सेवाएं दे रहे हैं उसे पढ़ कर हम इतना ही कह सकते हैं–**'हुए वो दोस्त जिनके, दुश्मन उनका आसमां क्यों हो ?**

अच्छा है, कालिया जी की राह अच्छी है, निष्कंटक! उनके सारे तौर–तरीके आपने जल्दी सीख लिए। सत्ता भ्रष्ट करती है किसी अमेरिकन चिंतक ने राजनीति के संदर्भ में लिखा था पर आपलोग तो उसे साहित्य में भी चरितार्थ करने का बीड़ा उठा चुके हैं। ज्ञानोदय विवाद से ठीक पहले आ चुके **पक्षधर के दूसरे अंक** में कालिया के घनिष्ठ मित्र कवि **नीलाभ** लिखते हैं–कि कालिया ने साहित्य को भी मंडी

की सी मानसिकता से लेना शुरू कर दिया। अक्सर कालिया सातवें दशक के कथाकारों के खिलाफ कमलेश्वर के तथाकथित षडयंत्र का जिक्र करता। कालिया के लिए साहित्य सरोकार की नहीं , वरन कैरियर की सीढ़ी थी। कालिया की यह फितरत थी कि उसके यहां अगर कोई लेख छपने के लिए आया होता तो कालिया उसमें अपना नाम जोड देता या किसी विरोधी का नाम काट देता। कालिया दरबार लगाने का कायल था। 1981 मे संजय गांधी की मृत्यु हुई तो कालिया ने पलटी मार कर राजीव गांधी का साथ कर लिया, यहां तक कि चुनावों के दौरान मेनका गांधी का चरित्र हनन करते हुए एक पुस्तिका बंटवायी। शराब पीकर वह कैसी भी अभद्रताएं करता रहा है उसने *गालिब छुटी शराब* में ऐसे प्रसंगों का जिक्र नहीं किया है।'

गालिब छुटी शराब मे कालिया ने जिन प्रसंगों का जिक्र किया है उनकी बाबत युवा कवि और कथाकार **सुंदरचंद ठाकुर** जो लिख चुके हैं उसी पर हरेप्रकाश गौर फरमाएं तो बातें साफ हो जाएंगी। ठाकुर लिखते हैं–" उन्होंने/ कालिया ने अपेक्षित साहित्यिक मूल्यबोधों से किनारा कर लिया। लेखकीय व्यभिचार का एक अंग्रेजी तरीका यह भी है कि पहले आप किसी की ऐसी–तैसी करो फिर मलहम लगा अपने दयाभाव का प्रदर्शन करो। और ऐसा करने के लिए वाहवाही भी लूटो। **लडकियों को लेकर रवींद्र कालिया के पास दादा कोंडके की नजर दिखती है।** एक जगह वे लिखते हैं,'उन दिनों मैं दो एक पैग पी लेने के बाद ज्यादातर लड़कियों को अपनी बेटी बना लिया करता था। अगर कोई लड़की भा जाती तो मैं तुरंत कोई न कोई रिश्ता कायम कर लेता। उस वर्ष करोलबाग मे लड़कियों पर बहुत बौर आयी थी। कई बार तो लगता कि ये लडकियां अपना ही नहीं हमारा भी कौमार्य भंग कर डालेंगी।'**क्या साहित्यिक साफगोई का तात्पर्य कुंठाओं का अतिरंजनापूर्ण चित्रण होता है।** साहित्यिकारों की मयखोरी व उनके साथ गुजारे आनंद के क्षणों का यह सस्ता व ओछा ब्यौरा,पूरे साहित्यिक परिदृश्य को ही हास्यास्पद बना देता है।" अब उन अभद्रताओं की कल्पना आप कर सकते हैं जिनके बारे में नीलाभ बताने से बच गए।

नया ज्ञानोदय जुलाई अंक में मनीषा अग्रवाल हम युवा लेखकों में **सेंस ऑफ ह्यूमर** की कमी की बात करती हैं और लगे हाथ कालिया और हरेप्रकाश मनीषा की बात को दुहरा देते हैं। आपके पास खुद भी कुछ कहने को है या इसी तरह मनीषा और नामवर जी से उधार लेकर काम चलाएंगे। खूब है आपका यह **नॉन्सेस ऑफ ह्यूमर।** यहां यह सवाल उठता है कि क्या कालिया जी हिन्दी की नयी लेखिकाओं को भी करोलबाग की लड़कियों की नजर से देखते हैं। मृत्युंजय के पत्र पर टिप्पणी करते कवि, समीक्षक **आर. चेतनक्रांति** ने सही कहा है कि युवा रचनाकारों के पास

इतने परदे नहीं कि उन्हें फाश करने की जरूरत पड़े। **स्वतंत्र मिश्र** ने सही सवाल उठाया है **राष्ट्रीय सहारा** में कि **अल्पना मिश्र** उन्हें सुंदर लगती हैं **कविता** क्यों नहीं और इसका अल्पना की कहानी के स्तर से क्या संबंध है ? युवा कवि और समीक्षक अच्युतानंद **मिश्र** भी सुंदरता के अनावश्यक बखान को संपादक की पुरूष वर्चस्ववादी मानसिकता का नमूना मानते हैं और पत्रिका का नाम **नया पुरूषोदय** रखने की सलाह देते हैं।

पाठकों की भारी मांग का हवाला कालिया ने दोनो अंकों में दिया है। अच्छा है इस तरह वे अगर दादा कोंडके की शैली में लडकियों पर बौर उगाने के काम में लगे रहें तो पत्रिका **सरस सलिल** के सर्कुलेशन को भी पार कर सकती है। और ऐसी साहित्येतर पत्रिका पर हम बहस करना क्यों चाहेंगे ? अभी स्थिति ऐसी नहीं हुई है इसीलिए हम बहस खडी करना चाहते हैं। हमारे अग्रज साथी यह सलाह दे रहे हैं कि गंदगी पर ढेला फेंकने से छींटे हम पर भी पड़ेंगे। पर हम लेखक होने से पहले **मुक्तिबोध** की कल्पना का **मेहतर** बनना पसंद करेंगे।

कॉलम में हरे प्रकाश व्यक्तिगत जीवन का छिद्रान्वेषण करने की जगह लिखे हुए का छिद्रान्वेषण करने की मांग करते हैं। **समयांतर अक्टूबर 2006** में 'सुकवि की मुश्किल' शीर्षक से छपे **अंकुर मिश्र सम्मान** के समय दिए गए वक्तव्य में **तद्भव–14** में छपे **अखिलेश** के संपादकीय और **बद्री नारायण** की कविता का मजाक बनाते हुए **हरे प्रकाश** ने लिखा था–अब आज के कवि जब बस इतनी सी बात पर हताश हो जाते हैं कि न अज्ञेय *जी से रहा है मेरा कोई रिश्ता/न त्रिलोचन की परंपरा में शामिल रहा हूं/फिर कौन होगा मेरा कवच* तो बड.ा धक्का लगता है कि एक कवि क्या इतना स्वार्थी हो गया है कि बस उसे अपने कवच की चिंता है। दस–पंद्रह साल पहले हिंदी कविता में निलय उपाध्याय,बद्री नारायण,एकांत श्रीवास्तव,बोधिसत्व आदि आए, वे भी अपनी बाद की कविता में अपने ठेठपन को बचा नहीं पाए।अब उनके बाद जो कवि आ रहे हैं , उनके पास वैसी संवेदना तो क्या है, उनके पास तो शहर में लोटा, पीढ़ा, नहीं होने का विलाप ही बचा है। इनकी भाषा कितनी थकी हुई और संतुलित है, क्या गालियां बकने का कोई और दौर आएगा ? यूं बिल्कुल इधर के कवियों में सुंदरचंद ठाकुर, आर. चेतनक्रांति, संजय चतुर्वेदी, कुमार मुकुल, निर्मला पुतुल और कुमार वीरेंद्र जैसे कवियों ने हिंदी कविता को जनता की वास्तविक पीड़ा से जोड़ा है। . . . *युवा कवियों से तो अधिक तेवर में आठवें दशक* के कवि लिख रहे हैं। अभी राजेश जोशी, विष्णु नागर, मनमोहन और विजय कुमार आदि के नए संकलन आए हैं, जो सचमुच प्रभावित करते हैं।' जनवरी 2007 के पहले सप्ताह में 2006 के संकलनों का आकलन करते हुए हरे प्रकाश पहले लिखी गयी बातें दुहराते हैं–' कि यह साल युवा कवियों का नहीं बल्कि वरिष्ठ कवियों का ही रहा।

विष्णु नागर विजय कुमार के सामने धूमिल पड. गये।'

यह सब लिखने के अभी कुछ माह भी नहीं हुए कि हरे को अपने कवच/कालिया जी की जरूरत पड़ गई, शतरंज के पांसे पलटते नया ज्ञानोदय जून अंक मे वे लिखते हैं – ' इधर दस पंद्रह वर्षों से उन्होंने/विजय कुमार ने हिन्दी कविता को देखना स्थगित कर अपने को दूसरे कामों में लगा रखा है। विजय कुमार जी का आरोप है कि नब्बे के दशक के कवि नकल कर रहे हैं। किसकी तो आठवें दशक के कवियो की। सुंदरचंद ठाकुर, अष्टभुजा शुक्ल, आर.चेतनक्रांति,संजय चतुर्वेदी जैसे कवियों के तेवर नहीं देखे विजय कुमार ने। मैं उनसे गुजारिश करूंगा कि इन कवियो को पढें, तब उन्हे पता चलेगा कि पुरानी पीढ़ी से नयी पीढ़ी का सौंदर्यबोध कितना अलग है।' उसी टिप्पणी में हरे प्रकाश, **विजय कुमार** के वक्तव्य को सामंती करार देते हैं और जुलाई अक मे **नामवर सिंह** के बहाने लेखकों को विरादरी बाहर करने का सामंती फतवा जारी कर देते हैं।

तो भईया हरेप्रकाश विजय कुमार जी **बाघ मारने** के मुगालते में रहें या नही आपके **गिरगिटिया** तेवर हमारी समझ में आ रहे हैं। कुछ महीने में आपने क्या कोई पीढ़ी तैयार कर ली या यह भी एक नयी सीढ़ी है। पांच महीने पहले आपको **आठवे दशक** के कवि युवा कवियों में अधिक **तेवर** में दिख रहे थे आज आप आठवें दशक के कवियो को **युवा कवियों** के तेवर दिखा रहे हैं। लगता है आपने विजय कुमार की टिप्पणी बिन पढे अपनी तत्काल सेवा आरंभ कर दी क्योंकि जिन कवियों के तेवर उन्हें आप दिखा रहे हैं उनके तेवरों की चर्चा विजय कुमार ने भी की है। क्या उलटवंशी है भैये! आपकी किताब आ रही है, पुरस्कार आदि तो मिल ही जाते हैं आप भी **झटक** ही लेगे। झटकना भाव बुरा तो नही लगा? पर हुजूर आपने ही राष्ट्रीय सहारा मे **सविता सिंह** पर लखटकिया पुरस्कार झटकने का फिकरा कसा था।

समयांतर में आपने धूमिल की 'मुनासिब कारवाई' की पंक्तियां कोट की थी – ' कविता क्या है/... क्या यह व्यक्तित्व बनाने की/चरित्र चमकाने की चीज है?...' मात्र कुछ माह के भीतर भाया परीकथा, हंस, कादंबिनी अब जिस तरह आपने नया ज्ञानोदय में तत्काल सेवाएं देने की मुनासिब कारवाई की उसकी हम दाद देते हैं। फिर आपके पेट में यह कैसी मरोड़ उठती है, कादंबिनी में होते हुए आपको बराबर पेट पर लात मारने का सपना क्यों आता है, दो जून की रोटी का सपना भी आपका जा नहीं रहा है। आप ' **उन घरों से आये हैं/जहां भूखे रहकर मली जाती है मूंछ पर घी**' तभी तो नामवर जी की बातें आपको बिरादराना लगती है। भईया नामवर जी ने मजाक किया होगा, साहित्य मे बिरादरी से बाहर किए गए लोगों को ही जगह मिलती है यह **खाला का घर** नहीं है। सब बातें आपकी लिखी हुई ही हैं। और कालिया जी की फितरतें भी सब की सब आपको रास आ गयी

हैं। पर बेवक्त का धमकी भरा फोन,गंदा मैसेज हमें रास नहीं आता। आलेखों से पंक्तियां और नाम काटना जोड़ना भी आप सीख ही गए होंगे। **देवी प्रसाद मिश्र** और **अनिल त्रिपाठी** ने नया ज्ञानोदय में हुई ऐसी खुराफातों पर बात की तो मुझे आश्चर्य हुआ था पर अब नीलाभ का संस्मरण पढने के बाद मेरा वहम जाता रहा।

सीखना हो तो दूर जाने की जरूरत नहीं, **जितेन्द्र श्रीवास्तव** से ही आप विशाल हृदयता की सीख ले सकते हैं। अपने अंकुर मिश्र सम्मान वाले भाषण में उन्हें शहर में लोटा, लालटेन, पीढ़ा नहीं होने का विलाप करने वाले कवि के रूप में चिन्हित किया था। **रचना समय** में उनकी कविताएं इधर पढीं तब आपके भाषण का भेद खुला। पर जितेन्द्र जी ने अपने लेख में जिन अच्छे कवियो की लिस्ट निकाली है उसमें पहला नाम आप ही का है। यूं रोना तो आप भी अच्छा रोते हैं, दरवाजे पर बंधी हाथी की जंजीर का और मूंछों पर मली जा रही घी का। आपका रोना जितेन्द्र जी से थोडा कलात्मक है, है ना। आपको धूमिल बहुत प्रिय हैं ना तो उन्होंने ही बातें गोलकर नही खोलकर करने की सलाह दी थी तो आप चिढे नहीं। कवियों में तुनुकमिजाजी,नफरत की वकालत करते हुए आपने गालियां पढने की जो अप्रतिम सलाह दी थी अपने भाषण में उस पर आपलोगों ने शब्दशः अमल शुरू कर दिया है और यह अच्छा है।

कुमार विकल को भी आप बहुत पसंद करते हैं। **गालिब** को भी बहुत कष्ट देते है। **राजकमल चौधरी** को भी थोडा पढ़ लीजिए तो **कॉकटेल लेखन** में सहूलियत होगी। हां इसका ध्यान रखिए कि इनलोगों ने मयखोरी के मुकाबले लिखा जोरदार है और ये काकटेल पीते भले हों लिखते नहीं थे। ये सब मुझे भी प्रिय हैं, **कुमार विकल** की पंक्तियां यहां याद आ रही हैं–*'शहर का नाम जंगल हो/आदमी के बस मुखौटे हों/सुविधाएं सभी सुअर की हों/इसी मंगलव्यवस्था के लिए/राजसत्ता से कारखानों तक/पूजागृहों से शराबखानों तक/एक खुश आदमी दनदनाता है '*। अब तय आपको करना है कि आप आपातकाल के नायकों को मानदंड बनाने वालों की ओर से पत्रिका का बाजार बढ़ाने के लिए लेखन के नाम पर माडलिंग की तत्काल सेवाएं देते रहेंगे या अपने प्रखर भाषण को तरजीह देंगे।

चीजें बहुत साफ हैं और युवा पीढी की आंखों मे मोतियाबिन्द नहीं उतरा है। वे सब देख–समझ रहे हैं और राय भी व्यक्त कर रहे हैं। **विजय कुमार ने ऐसा कुछ भी नहीं लिखा है जो आपके मत से अलग हो**। रही पीढ़ी की बात तो उसकी चिंता किसी के अकेले के बूते की नही है।

नयी पीढी अपना होना खुद तय करेगी उस पर ना विजय कुमार का वश है ना आप

का। हर पीढ़ी को उसके बाद वाली पीढ़ी ही पहचानती है। आलोचक किसी गुजरे कवि को या हो चुके कवि की ही पहचान करते हैं। **निराला हो चुके तब उनसे छोटे रामविलास शर्मा ने उन्हें पहचाना, मुक्तिबोध को उनके बाद नामवर सिंह ने पहचाना। ऐसा नहीं है कि किसी के वरदहस्त से किसी नये कवि की पहचान हुई हो। ऐसी पहचान वाले कवि एक दशक से ज्यादा सांस नहीं ले पाते।** इसलिए अपनी समझदारी का पल्लू थामें, झूठी जिदों का नहीं। संवाद की ताकत पैदा कीजिए फिकराकसी की नहीं। वह बहुत आसान काम है। अंत में **मीर** की पंक्तियों से खत्म करता हूं–'**मिरे सलीके से, मेरी निभी मुहब्बत में तमाम उम्र मैं नाकामियों से काम लिया**'।

आपातकाल और 'नया ज्ञानोदय' विवाद

–स्वतंत्र मिश्र

26 जून 2007 को गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली में आपातकाल की 32 वीं वर्षगांठ पर 'आपातकाल तब और अब' विषय पर अपनी बात रखते हुए वरिष्ठ पत्रकार कुलदीप नैयर ने कहा–'आपातकाल के दौरान प्रेस और लेखक व पत्रकारों की भूमिका बहुत ही आपत्तिजनक रही थी। उस दौरान इंदिरा गांधी के प्रस्ताव पर पहले ही दिन 100 से ज्यादा लेखकों व पत्रकारों ने हस्ताक्षर कर दिये थे।' प्रेस काउंसिल ऑफ इंडिया के तात्कालीन प्रमुख रहे जस्टिस अय्यर की आपत्तिजनक भूमिका के बारे में उक्त बैठक में कुलदीप नैयर ने चर्चा की। कुलदीप नैयर ने जस्टिस अय्यर को आपातकाल के विरोध में पत्रकारों की एक बैठक बुलाकर एक प्रस्ताव तैयार करने की सलाह दी थी। पत्रकार नैयर ने जस्टिस अय्यर को कहा कि भारतीय पत्रकारिता के संदर्भ में आपातकाल जैसी अमानवीय घटना के विरोध में ऐसा करना एक ऐतिहासिक कदम होगा। परंतु जस्टिस अय्यर ने ऐसा कुछ भी नहीं किया। ऐसा न करने के पीछे कई बहाने भी बनाये। आश्चर्य की बात तो यह है कि इस घटना के बाद जस्टिस अय्यर तत्कालीन केंद्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्री वी. सी. शुक्ला से मिले और कुलदीप नैयर की सलाह के बारे में बता दिया। संजय गांधी से भी आपातकाल के बारे में कुलदीप नैयर ने बात की थी। उस बातचीत में संजय

गांधी ने कुलदीप नैयर से कहा था–'मेरी मां (इंदिरा गांधी) ने **चुनाव कराने की घोषणा क्यों कर दी? मैं तो 25 साल चुनाव न कराने की योजना बनाये बैठा था।'** दरअसल इन बातों का जिक यहां दो बातों के संदर्भ में करना चाह रहा हूं। **पहला तो यह कि आपातकाल की 32 वीं बरसी पर अखबार और समाचार चैनलों की चुप्पी क्या संकेत दे रही है? दूसरा यह कि 'नया–ज्ञानोदय' के संपादक द्वारा पैदा किये गये विवाद की परंपरा किसी–न–किसी रूप में आपातकाल में लेखकों के समझौतापरस्त रूझानों से मेल खाती प्रतीत होती है।** दूसरी घटना को पहली घटना से बहुत अलग करके नहीं देखा जा सकता है। मतलब यह कि अब देश के वही मुद्दे अखबारों या चैनलों पर बहस के विषय बनेंगे, जिसपर बहस करने की इजाजत इन समाचार पत्रों और चैनलों के मालिक अपने बनते घाटे और मुनाफे के आधार पर देंगे। दरअसल 'नया ज्ञानोदन' विवाद के परिचय पचीसी प्रकरण (फूहड़ता से भरपूर) के लिए संपादक रवींद्र कालिया भी कुछ बाजारू तर्क जुटाते हैं। वे कहते हैं–'इससे पत्रिका की ब्रिकी बढ़ गयी। पत्रिका का पुनर्मुद्रण कराना पड़ा।' इसी तर्क से प्रभावित होकर नया ज्ञानोदय, जुलाई 2007 के अंक में ममता कालिया ने चित्रा मुद्गल को साहित्य जगत की हेमा मालिनी की उपमा दे डाली है। रवींद्र कालिया अचानक बाजारवाद के प्रभाव में आकर ऐसी टिप्पणियां नहीं जड रहे हैं।

रवीन्द्र कालिया की ऐसी टिप्पणी के पीछे एक लंबी–चौड़ी पूर्वपीठिका मौजूद है। वरिष्ठ साहित्यकार नीलाभ 'पक्षधर–दूसरा अंक' में इलाहाबाद के बिगड़ते साहित्यिक परिदृश्य पर अपने संस्मरण में कई गंभीर संकेत देते हैं। इसी संस्मरण में वे रवींद्र कालिया की साहित्य में बाजारू मानसिकता को लेकर प्रवेश पर चिंता जाहिर करते हुए, कुछ प्रमाण पेश करते हैं। रवींद्र कालिया की इलाहाबाद में कुमार विकल द्वारा पिटाई से लेकर संजय गांधी के साथ घूमने और संजय गांधी के मरणोपरांत राजीव गांधी के साथ हो जाने और मेनका गांधी के बारे में उल–जलूल (चरित्र–हनन) मसालों से तैयार की गयी पुस्तिका के सार्वजनिक वितरण के बारे में नीलाभ ने अपने संस्मरण में कायदे से लिखा है। उन्होंने यह भी लिखा है कि किस तरह रवींद्र कालिया अपनी पत्रिका 'आधार' के लिए छपने आये लेखों में अपना नाम जोड़ लेते और किसी वैमन्यस्यता में आकर अपने विरोधी लेखक, साहित्यकारों का नाम काट देते थे। ऐसी वृत्तियों से भरी हुई युवा पीढ़ी का निर्माण वे पहले '**वागर्थ**' और अब 'नया ज्ञानोदय' के माध्यम से कुछ नये रचनाकारों में छपने की भूख जगाकर कर रहे हैं। नया ज्ञानोदय के प्रसंग में जितेन्द्र श्रीवास्तव के मूल लेख '**हमारे समय की आंख है युवा कविता**' में हरेप्रकाश उपाध्याय का नाम नहीं था, परंतु नया ज्ञानोदय के जून युवा विशेषांक में हरेप्रकाश का नाम प्रकाशित हुआ है। साहित्य जगत में यह

चर्चा आम है कि परिचय पचीसी के भी रचियता कवि हरेप्रकाश उपाध्याय और कथाकार कुणाल सिंह हैं। पक्षधर के संस्मरण मे नीलाभ यह मानते हैं कि कालिया के लिए साहित्य सामाजिक सरोकार की नही, वरन कैरियर की सीढी थी। नीलाभ का यह कहा हुआ उन लोगो पर भी लागू होता है जो आज साहित्य को सामाजिक सरोकार के आधार पर नही बल्कि कैरियर की एक सीढी के तौर पर देखते हैं। ऐसे लोगों की फेहरिस्त बहुत लबी है क्योकि ऐसी फासीवादी कुकृत्यो पर चुप रहना या यह कहकर इस मामले को टाल देना कि साहब! युवा विशेषाक मई, जून मे छपी रचनाओं पर बात कीजिए, दरअसल ऐसे अपराधो मे जाने–अनजाने अपनी भागीदारी तय करना होता है। रचना या शिल्प आकाश से 'ओस' की तरह नहीं टपकती है बल्कि किसी प्रतिबद्ध रचनाकार की रचना बरसात की बूद की तरह वाष्पीकरण, संघनन आदि कई प्रक्रियाओ से गुजरकर तैयार होती है। हा! निश्चित तौर पर प्रत्येक दौर मे ऐसा होता आया है कि कुछ लोगो के लिए साहित्य, राजनीति या समाज सेवा कैरियर की एक सीढी के तौर पर ही पेश हुई है। पर इतिहास के करवट ने उन्हे बेईमान साबित किया है। रामधारी सिह 'दिनकर' बहुत प्रतिभाशाली होते हुए भी बगैर सामाजिक सरोकार के साहित्य मे आये थे। इसलिए वे आजीवन तमाम तरह की सवर्ण प्रतीक कुठाओं के शिकार बने रहे। यही वजह है कि उनकी कविताओ में जाति सूचक प्रतीकों की भरमार है। या फिर सत्ता की चापलूसी मे उनको दोहा भी गाना पड़ा था। अपनी बहुचर्चित कविता में वे लिखते हैं–**'जब होता हूं जहां, उसी ध्रुव से बोला करता हूं।'** अब सवाल यहा उठता है कि विजय कुमार युवा रचनाकारो के बारे में अगर आम राय यह बनाते है कि आजकल के रचनाकारो का कथा थोड़ा झुका हुआ है तो वे क्या गलत कहते है?निश्चित तौर पर यह सभी पर लागू नही हो सकता है। लेकिन अग्रेजी की एक कहावत के अनुसार–एक्सेप्सन डज नॉट काउंट (अपवादो की गिनती नही की जाती है)।' विजय कुमार की काल–सापेक्ष ऐसी टिप्पणियो पर रेत के महल की तरह भरभराकर कवि बोधिसत्व की 'मोहल्ला ब्लॉग' पर प्रकाशित टिप्पणी निश्चय ही उनके स्त्री–विरोधी होने के पर्याप्त साक्ष्य पेश करता है। दरअसल साहित्य में इन अपराधी प्रवृत्तियो की उपेक्षा हमेशा की जाती रही है। लोग इन पर बात करने से कतराते रहे है। परंतु विवादों पर चुप्पी साधते रहने से अपराध कभी छोटा, कम या समाप्त नही होता है। बल्कि इसके उलट वह अपनी ताकत मे वृद्धि करके मनमानी करने लगता है। ठीक उसी तरह जिस तरह आपके या हमारे मोहल्ले के छुटभैयये दादा लोग। यह चिंता का विषय है। साहित्यसुधी इनसे इतना परहेज मत कीजिए कि कल आपका जीना उनकी शर्तों पर तय होने लगे।

साभार : दि संडे पोस्ट

संपादन की लाठी

– अच्युतानंद मिश्र

साहित्य स्वयं मे कोई उद्देश्य नही वह उद्देश्य प्राप्ति का एक मार्ग है। इसी वजह से साहित्य मे सरोकार होते हैं। सरोकार विचारों के साथ होते हैं। ऐसे में विचार ही तय करते है कि साहित्य के सरोकार क्या है? विचार और सरोकार के योग से ही साहित्य मे मूल्य का निर्माण होता है। मूल्य देश–काल सापेक्ष होते हैं, क्योंकि विचार और सरोकार गतिशील होते है। साहित्य इसीलिए पक्षधर होता है, वह समाज की वास्तविक दशा और दिशा को न सिर्फ प्रतिबिम्बित करता है अपितु उसे प्रभावित भी करता है।

सरोकार हीन साहित्य समाज की सदिश गाति को पीछे मोड़ने का प्रयास करता है। विचार इनके पीछे भी होते है परन्तु वे अन्ततः मूल्यहीनता ही उत्पन्न करते है। कहना न होगा कि सरोकार हीन साहित्य ऐसे में एक किस्म का कलावाद अयथार्थवाद, अमूर्तन वाग्जाल और निरर्थकता, बोध ही उत्पन्न करता है। 'कला–कला के लिए' भी दरअसल एक विचार है। एक ऐसा विचार जो जनवादी चेतना को कुंद करता है। ऐसे साहित्य के पीछे जो विचार होते हैं वे 'संघर्षशील आमजन' के नही अपितु सुविधाभोगी कुलीन समाज के विचार होते हैं।

'नया ज्ञानोदय' का वर्तमान 'युवा विशेषाक' एक नकारात्मक किस्म का साहित्य (मुख्यतः संपादन की वजह से) ही परोस रहा है। परन्तु इसे एक परिपक्व कथाकार संपादक के सरोकार और चिंताओ की तरह लेना चाहिए। पत्रिका के दो 'युवा विशेषाक' अभी आए हैं। पहले अंक मे विजय कुमार का कविता पर और विजय मोहन सिंह का कहानी को लेकर महत्वपूर्ण लेख हैं। परन्तु इन दोनों लेखों को संपादकीय के साथ मिलाकर पढ़ने से बहुत सी चीजे स्पष्ट हो जाती है। संपादक ने संपादकीय मे ही बिना किसी स्थापना या तर्क के 'विजय कुमार' के लेख के प्रति नकारात्मक प्रचार प्रस्तुत किया है।

अपने लेख में विजय मोहन सिंह, रवीन्द्र कालिया की ही तर्ज पर हिन्दी कहानी से सन्तुष्ट नजर आते हैं। हर समय का साहित्य चाहे वह किसी विधा में क्यों न हो 'साहित्य के बीच संघर्ष उत्पन्न होता है। यही से वह अपने 'समय और आदाम' दोनो से जुड़ता है, यही से उसमे सरोकारो का समावेश होता है। विचारो के माध्यम से अपनी दृष्टि को उन्नत कर ही साहित्यकार सरोकारों के लक्ष्य को साहित्य के

माध्यम से हासिल करता है।

'विजयमोहन सिंह' ने इसी स्थापना के उलट साहित्य कथा के सन्दर्भ में, को विचारधारा से मुक्त करने का आह्वान किया। इसका अर्थ यह हुआ जिस कथा में भी उन्हें वैचारिक दिवालियापन नजर आता है उसे वे महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके छोटे से लेख में कई विरोधाभास नजर आते हैं। एक जगह वह स्वीकार करते हैं कि रचना के अंदर 'बहुआयामी जटिल सरंचना' होनी चाहिए, क्या यह जटिल संरचना बिना किसी विचार के संभव है? अंधेरे में तीर चलाकर सिर्फ अंधेरे का ही वर्णन किया जा सकता है, तीर की दिशा और लक्ष्य की दशा का कोई विवरण हासिल नहीं किया जा सकता। ऐसी दिशा और दिशा विहीन साहित्य का क्या होगा? विजयमोहन सिंह का लेख एक आचार्य की मुद्रा में फतवे की तरह है, वहां तरकस और स्थापनाएं ज्यादा हैं।

यही तेवर संपादकीय मे भी नजर आते हैं। दोनों लेखों को ठीक–ठीक प्रस्तुत करने की जगह सपांदक पूर्वाग्रह से ग्रसित नजर आता है। प्रश्न उठता है अगर उन्हें विजय कुमार के लेख से एतराज था तो प्रकाशित क्यों किया (संपादकीय विशेषधिकार!! का उपयोग करते) और प्रकाशित किया तो निर्णय पाठक को ही लेने देते।

परन्तु संपादक ने जानवूझकर पहले ही उस लेख के खिलाफ ऋणात्मक वातावरण तैयार करने का काम संपादकीय में किया जो किसी संपादक की मर्यादा के सर्वथा प्रतिकूल है।

दूसरी ओर विजय कुमार का लेख बहुआयामी और संप्रेषणीय है। 'मुक्तिबोध की डायरी' के शिल्प में लिखा गया यह लेख कई स्तरों पर युवा कविता की वर्तमान दशा और दिशा पर प्रकाश डालता है। लेखक ने कवि के संघर्ष और कविता के संघर्ष के द्वैत और द्वन्द्व की 'मुक्तिबोधीय स्थापना' को ही प्रस्तुत किया है, कोई नई बात नहीं कही जिसपर इतनी 'हाय–तौबा' मची है। विरोध करने वालों ने लेख की मूल आत्मा को पकड़े बगैर सतही तौर पर भावुक आलोचनाएं की। अगर उन्हें ये तर्क स्वीकार नही थे तो 'मुक्तिबोध' की स्थापनाओं पर प्रश्न उठाने थे।

लेखक ने स्वीकार किया है कि वर्तमान हिन्दी कविता में कविता से बड़ा कवि होने लगा है। कविताओं से ज्यादा चर्चा कवि की होती है। मैं विरोध करने वालो से पूछता हूं युवा कविता को छोड़िए, पिछले दस वर्षों में किसी बड़े कवि की आप ऐसी कविता बताइए जिससे उसे पहचाना जाए जैसे कि 'मुक्तिबोध' 'राजकमल' आलोकधन्वा, 'धूमिल', रघुवीर सहाय इत्यादी कवि पहचाने जाते हैं।

क्या किसी मनुष्य को कवि बनाना ही कविता का लक्ष्य होता है ऐसे में कविता जन चेतना को प्रतिबिम्बित करने की जगह व्यैक्तिक चेतना को ही प्रतिबिम्बित करने लगती है। विजय कुमार ने इस खतरे को बहुआयामी माना है। देश–काल, राजनीति,

वैचारिक स्खलन समय की गलत पहचान इत्यादि कई स्तरों पर कविता का पतन हो रहा है। ऐसा क्यों है, इस स्थापना के पीछे समुचित तर्क भी लेखक ने दिए है।

बकौल लेखक 'दुर्भाग्य से आज का युवा कवि किसी भी बौद्धिक संवाद से विमुख दिखाई देता है। वैचारिक स्तर पर यह कमजोरी कविता में प्रमुखता से उभर कर आई है। इसी तर्क के आधार पर देखने से पता चलता है कि क्यों 'कात्यायनी' एक बड़ी कवियित्री है।

कवि जब कविता से किसी वैचारिक सरोकार के साथ नहीं जुड़ेगा तो कविता में वह वैयक्तिक स्वार्थ और महत्वाकांक्षा को ही साधेगा। अपनी महत्वकांक्षा को पूरा करने के लिए उसे 'अलोचक नामक प्राणी से सर्टिफिकेट पाने के लिए' उसके पीछे लपकना पड़ेगा। कविता के इसी 'वास्तविक संकट' की ओर विजय कुमार ने ध्यान दिलाया है। पत्रिका के दूसरे अंक में विरोधियों ने विरोध करने के लिए विरोध किया है।

दूसरे अंक में जितेन्द्र श्रीवास्तव ने बात सही तरीके से नहीं समझी है सवाल है कि अगर कविता आन्दोलन से प्रेरित होती है तो क्या कविता आन्दोलन खड़ा करने में सक्रिय नहीं होती? उनका लेख संघर्ष के द्वन्द्व को समझे बगैर एक आयामी है। कृष्णमोहन का भी लेख बगैर किसी तर्क के नजर आता है। बाकी दोनों कवियों हरेप्रकाश उपाध्याय और रवीन्द्र स्वप्निल ने भावुक प्रतिक्रियाएं दे डाली हैं। रवीन्द्र ने तो बाजारवाद का ही खुला समर्थन कर डाला है। इससे उनके 'वैचारिक कोलाज' का पता चलता है।

संपादक ने इस पाठ को कुपाठ में बदल दिया है। इससे सपांदक के वैचारिक सरोकार का पता चलता है। संपादक ने अपनी वैचारिक निरूद्देश्यता को अंक में पर्याप्त प्रमाण दिए है। कथाकारों के परिचय को लेकर एक किस्म की 'रूग्ण मानसिकता' संपादक ने प्रस्तुत किए हैं। स्त्रियों का परिचय फूहड़ और सस्ते स्तर तक चला गया है। लेखिकाओं के परिचय में उनके ब्यौरे कम और वे किसी की पत्नी, बेटी या भतीजी इत्यादी हैं इस पर ज्यादा ध्यान दिया गया। उनकी सुदंरता का अनावश्यक बखान किया गया है। इस शैली को स्थापित करने की कोशिश में लगे संपादक को पत्रिका का नाम 'नया पुरूषोदय' रखने पर विचार एक बार जरूर करना चाहिए।

इसी प्रकार कई पुरूष कथाकारों के परिचय को भी उनके व्यक्तिगत जीवन से फूहड़ तरीके से जोड़ा गया है। कुल मिलाकर एक सस्ता और घटिया किस्म का संपादन नजर आता हैं।

सपांदक को इसके लिए सार्वजनिक तौर पर माफी मांगनी चाहिए अन्यथा भविष्य में कलम की जगह लाठी चलाने का अभ्यास करना चाहिए।

काला रजिस्टर के 'नायक' रवीन्द्र कालिया?

–कुमार मुकुल

नया ज्ञानोदय प्रकरण में रवीन्द्र कालिया को ज्ञानरंजन द्वारा लिखी गई चिट्ठी को पढ़कर यह साफ हो गया है कि कभी 'सृजन के सहयात्री आज एक–दूजे के लिए असहययात्री हो चुके हैं। पत्र से यह भी स्पष्ट हो गया कि मौहल्ला, राष्ट्रीय सहारा, दि संडे पोस्ट अखबार पर आरंभ की गई युवा रचनाकारों की मुहिम एक मुकाम पर पहुंच चुकी है। जनसत्ता में रवीन्द्र कालिया को लेकर चले विवाद ने भी हमारे सवालों को पुष्ट किया। कालिया जिस लइकभुड़भुड़ पर सवार इतरा रहे थे उसकी हवा निकल चुकी है। 1996 में आई रवीन्द्र कालिया की संस्मरणों की किताब 'सृजन के सहयात्री' में पहला संस्मरण ज्ञानरंजन पर ही है। अपने संस्मरण में ज्ञानरंजन की स्पष्ट रुचियों की बाबत कालिया लिखते हैं– 'दरअसल ज्ञान की रुचियां बहुत स्पष्ट हैं। वह आपसे दोस्ती कर सकता है या दोस्ती नहीं कर सकता। वह उन लोगों में से नहीं है, जो दोस्ती का नाटक करते हुए हमेशा इस ताक में रहते हैं कि कब आपकी पीठ में छुरा झोंक दें। 'आज कालिया को लिखे अपने पत्र में ज्ञानरंजन ने कालिया के आकलन को ही पुष्ट किया है। पर इस आकलन की विडंबना यह है कि आज यह कालिया के ही अंतर्विरोधों को दर्शा रहा है।

पत्र में क्षुब्ध हो ज्ञानरंजन पूछते हैं – ... मैं नहीं जानता कि कौन सा षड्यंत्र या मतवालापन तुम्हारे अंदर पक रहा है कि इतनी खराब भाषा का इस्तेमाल तुमने किया है। करवाया है।...क्या तुम काला रजिस्टर के नायक हो गये हो? अब इस पत्र पर भी रवीन्द्र कालिया के खड़े किए गए मुन्नाभाई और सर्किट जैसे पात्र कुछ कसीदे काढ़ सकते हैं इसलिए यहां कालिया के संस्मरणों के अंश को रखना जरूरी है। अपने संस्मरण में कालिया लिखते है–' ... कहानीकार ज्ञान से कम सशक्त नहीं है पत्र–लेखक ज्ञानरंजन। जो लोग कथालेखन में ज्ञान की चुप्पी की बात करते हैं, वे कभी उसके वे पत्र पढ़ेंगे, जो उसने अपनी रचनाहीनता के इस दौर में लिखे हैं, वे भी उसका लोहा मान लेंगे। यहां कुछ लोग मुन्नाभाई और सर्किट शब्दावली पर आपत्ति कर सकते हैं। पर जब साहित्य में अमिताभ बच्चन और हेमामालिनी जैसे संबोधन प्रिय हो रहे हों तो बाकी से कैसे परहेज किया जा सकता है। हेमामालिनी होंगी तो उसे छमकछल्लों कह अपने अड्डे पर नाचने को मजबूर करने वाला गब्बर भी वहीं कहीं आस–पास उपस्थित होगा। आसान रास्ते आप चुनेंगे मूल्यांकन के तो उतनी ही

आसनी से आपका मूल्यांकन भी कर दिया जाएगा।

ज्ञान के बारे में कालिया यह भी लिखते हैं कि–' अकेले दम पर वह कठिन से कठिन परिस्थितियों का मुकाबला कर सकता है।... कि ज्ञान के व्यक्तित्व का एक उजला पक्ष यह भी है कि वह झूठ नहीं बोलता। वह सत्यवादी है–सत्यवादी ज्ञानरंजन।' तो कल के अकेले लड़ने वाले ज्ञान आज अपनी लड़ाई को बहुगुणित कर चुके हैं और नये लड़ाकों की नयी पीढ़ी अपने इन्द्रधनुषी रंगों के साथ सामने आ चुकी है। इसलिए पीढ़ी के नाम पर पीढ़ा चलाना और चलवाना बंद करें कालिया।

इस बीच एक–से–एक शिगूफे छोड़े जा रहे हैं। और साहित्य के सज्जन हैं कि जेबतराश शालीनता से मुंह में चंद्रकटार धरे इंतजार कर रहे हैं कि कब विवादों की धूप ढ़ले और वे फिर से धुले–पुंछे साहित्याकाश में अपनी पतंगबाजी आरंभ कर सकें। यह अविनाश के भीतर में कवि की सच्ची जिद ही थी कि 'मोहल्ला' पर हमारा कारवां बढ़ता गया।

संस्मरण

पत्रिका 'इरावती' में मोहन किशोर दीवान द्वारा लिखित संस्मरण यारों के यार कालिया दम्पत्ति के कुछ टुकड़े यहां पेश किये जा रहे हैं :–

✦ अपनी पहली रचना के साथ कालिया ने अपना परिचय भेजा था– साहित्य संस्कारों से ग्रस्त 'पंजाबी गबरू जवान, छह फीट लम्बा, शराब का प्रेमी, चेनस्मोकर, अविवाहित।

✦ रवीन्द्र कालिया को मैं कालेज के दिनों से जानता हूं। करीब–करीब पचास साल पहले से। तीन शब्दों में कहें तो वह 'यारों के यार' हैं। काशीनाथ सिंह ने उस के बारे में क्या खूब कहा है सहज, उन्मुक्त यारवारा तेज और फक्कड़–यदि, 'किस्सा कहानी में नामी–गिरामी, शराफत की लत से मारे बेचारे।' इसके बावजूद परम हरामी। इन हरामियों में सिरमौर रवीन्द्र कालिया वह अक्सर हरामीपन की हदों को पार नहीं करता, पर अगर वह हरामीपन पर उतर आए तो राजेन्द्र यादव आपको शरीफ आदमी लगने लगें, और कमलेश्वर जैसे 'चूड़ामणि' भी उसके आगे पानी भरने लगें।

✦ एक दिन नरेन्द्र ने बताया कि अश्क जी कश्मीर से लौटते हुए कुछ रोज

जालन्धर में मोहन राकेश के यहां रुकेंगे। कालिया ने सोचा कि वह बहुत स्वर्णिम मौका है, दो–दो साहित्यकारों से मिलने का। वह रेलवे स्टेशन पहुंच गया, उनकी आगवानी के लिए। वही उसकी मुलाकात राकेश जी से हुई। उसने हाल ही में उनकी एक कहानी 'मवाली' पढ़ी थी, जो उसे बहुत अच्छी लगी थी। राकेश प्रभावित हो गए। उसने अश्क जी से मिलते ही कहा कि मैं आपका इंटरव्यू लेना चाहता हूं। अश्क जी का इंटरव्यू लेने का चाव तो था, पर प्रश्न नही सूझ रहे थे। इस पर अश्क जी ने पूछा कि यह प्रकाशित कहां होगी, तो इसके मुख से निकल गया 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'। इस पर अश्कजी ने, प्रश्न भी और उत्तर भी खुद ही लिख दिए और कालिया का पहला लेख धूमधाम से साप्ताहिक हिन्दुस्तान जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका में प्रकाशित हुआ। तब वह फर्स्ट इयर का विद्यार्थी था।

✦ रवीन्द्र कालिया अपनी पंजाबियत का बहुत कायल था। वह अंग्रेजी और हिन्दी को पंजाबी उच्चारण से बोलने का आदी था। उन दिनों सत सोनी जालन्धर से प्रकाशित 'हिन्दी मिलाप' के वरिष्ठ उप–संपादक एवं फीचर एडिटर थे। मुझे और रवीन्द्र को बचपन से ही लेखन के लिए उन्होंने ही प्रोत्साहित किया था। हिन्दी मिलाप के बच्चों के पृष्ठ, शिशु संसार का वही संपादन करते थे और स्कूल के दिनों से ही हमारी रचनाएं उस पृष्ठ, पर छपा करती थीं। सभी बच्चों की कच्ची–पक्की जो भी वे लिखते उनमें जरा सा भी दम रहने पर, वह सुधार कर छाप देते। रवीन्द्र कालिया के पंजाबी नाम 'रविन्दर कालिया' का सुधार भी उन्होंने ही उसकी पहली रचना छाप कर किया था। तब से आज तक वह रविन्दर कालिया से रवीन्द्र कालिया बन गया।

✦ डॉ. इन्द्रनाथ मदान जो हमारे कालेज के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे, वह मॉडल टाऊन में ही रहते थे, राकेश के घर के पास ही। दोनों एक–दूसरे को सनकी समझते थे। मदान आजीवन अविवाहित रहे। मदान किसी के सामने मद्यपान नहीं करते थे। उनका बाथरूम ही उनकी मधुशाला थी। कालिया ने उनके यहां आना–जाना शुरू किया और बड़े करीने से ऐसी परिस्थितियां तैयार की कि वह मदान का हमप्याला–हमनिवाला बन गया।

✦ हिन्दी के हर स्वनामधन्य लेखक का वह जिगरी यार है। दोस्तों की टांग खींचना उसकी हॉबी है। 'पहल' के सुप्रसिद्ध संपादक ज्ञानरंजन के बारे में वह कहता है कि वह अन्तरराष्ट्रीय सपना देखने वालों की टीम का कप्तान है। सपने में गोर्बाचोव और येल्तसिन दोनों ज्ञान से डांट खा चुके हैं। सपने ही सपने में वह नंगे पांव 'व्हाइट हाउस' पहुंच गया और वहां उसकी राष्ट्रपति जार्ज बुश से तकरार हो गई। हाथापाई की नौबत आ गई। उसके सपनों से पता चलता है कि वह अपने संदर्भों से कितना गहरा जुड़ा हुआ है और साहित्य के मठाधीशों को सशंकित किए रहता है। स्पष्टवादिता

के लिए ममता और रवीन्द्र दोनों ही मशहूर हैं। ममता का मायका उन दिनों राजेन्द्र यादव के पड़ोस में शक्ति नगर में था। उसके अनुसार राजेन्द्र यादव का बस चलता तो शक्ति नगर की तमाम युवतियों को कहानीकार बना देते। आज नहीं शुरू से ही राजेन्द्र यादव का यह शौक रहा है। 'हंस' में महिला कथाकारों का अनुपात देख कर ममता ने एक बार राजेन्द्र यादव को सलाह दी थी कि वह 'हंस का नाम 'हंसिनी' रख लें।

'नया–ज्ञानोदय' के संपादक ने अपने संपादकीय में लेखिका नासिरा शर्मा पर साम्प्रदायिक होने जैसा गंभीर आरोप लगाया। नासिरा शर्मा ने दैनिक अखबार जनसत्ता के माध्यम से इसका जवाब दिया। इस जवाबी लेख के प्रकाशित होते ही अखबार को कई वरिष्ठ लेखक–लेखिकाओं के लेख मिले। अखबार ने रविवार के साहित्यिक पन्ने पर इनको जगह दी। उन लेखों में से कुछ के विशेष अंश यहां प्रकाशित किए जा रहे हैं :–

शर्म तुमको मगर नहीं आती

–नासिरा शर्मा

'नया ज्ञानोदय' के ज्ञानी संपादक ने एक और विवाद खड़ा करने का जतन किया है। उन्होंने मुझे लेखिका से मुसलमान बना दिया है। एक काल्पनिक बात मेरे मुंह में डालने की कोशिश की है। दिलचस्प बात यह है कि इसमें उन्हें कमल किशोर गोयनका जैसे विद्वान का सहयोग हासिल है!

पत्रिका के जून अंक में छपे कालिया के विचार और नजरिए को समझने की मैं अब तक कोशिश कर रही हूं। उन्होंने उसी अंक में मीरा सीकारी के एक लेख में मेरे नाम से उद्धत गलत और अपुष्ट बयान पर बड़ी उपदेश भरी टीका लिखी है, मुझे लोकतंत्र का पाठ पढ़ाया है और सीख दी है कि पुरस्कार पाने के लिए मुझे "कुछ

ऐसा'' (कैसा?) लिखना चाहिए।

उस संपादकीय के कुछ अंश हैं: ''... नासिरा जी ने शहीदाना अंदाज में कहा है कि 'मुसलमान होने से ये इनाम (पुरस्कार) वे हमें कभी नहीं देंगे। मैं यकीन करूं या न करूं लेकिन यह एक सच है कि ये इनाम मुसलमान राइटर्स को नहीं मिलेंगे।' उनके इस कथन को पचाना कठिन है।... हिंदी में बहुत से ऐसे गैर मुसलमान लेखक मिल जाएंगे जिन्हें तमाम अर्हताओं के बावजूद साहित्य अकादमी का पुरस्कार नहीं मिला।... पुरस्कार को संकीर्ण दृष्टि से देखना गैरवाजिब है।... इस देश में एक लंबी लोकतांत्रिक परंपरा है, जिसके अंतर्गत देश का एक मुसलमान राष्ट्रपति के सर्वोच्च पद तक पहुंच सकता है। किसी पुरस्कार की लोकतांत्रिक प्रक्रिया को व्यक्तिगत कारणों से चुनौती देना बहुत उचित नहीं लगता। हम केवल कामना कर सकते हैं कि नासिरा जी कुछ ऐसा लिखें कि जूरी के सदस्य उनको पुरस्कार देने पर मजबूर हो जाएं। बहुत संभव है कि नासिरा जी को संपादक की ये पंक्तियां अच्छी न लगें, मगर संपादक को अपना संपादकीय दायित्व निभाना ही पड़ता है।...''

संपादकीय दायित्व तब निभता, जब मेरे कथित बयान पर टिप्पणी करने से पहले रवींद्र कालिया दरियाफ्त कर लेते कि क्या मैंने सचमुच यह बात की है, जिसे मेरी जुबान पर रखने की कोशिश की जा रही है? उद्धरण–चिह्नों का उन्होंने मेरे लिए ऐसे इस्तेमाल किया है, जैसे कोई रेकार्डेड या मुझसे प्रमाणित बातचीत का हवाला दे रहे हों। उन्होंने मेरी रचनाएं पसंद की हैं, प्रकाशित भी की हैं। वे जानते हैं 'अक्षयवट' (ज्ञानपीठ से ही छपा उपन्यास) और 'कुइयांजान' में भारतीयता का ताना–बाना है, हिंदू–मुसलिम फिरकापरस्ती का नहीं। मैंने मुस्लिम समाज की सबसे ज्यादा आलोचना की है। उन्हें शायद नहीं मालूम कि अफगानिस्तान और इराक पर लिखी किताबों के लिए मैंने कितने खतरे मोल लिए। मैं समझती थी मुझ पर सामग्री जुटाकर वे मेरे लेखन की कद्र कर रहे हैं। मेरी तरह उनके पाठकों को भी हैरानी की हुई होगी कि ''मील का पत्थर'' शीर्षक से एक लेखिका पर दो दर्जन पेज सिर्फ करने के बाद उन्होंने उस पर अंगुली उठाने वाला संपादकीय उन्होंने किस मकसद से लिखा।

खास बात यह कि जिस पुरस्कार का उन्होंने जिक्र किया है, सीकरी के लेख में उसकी तो कहीं बात ही नहीं थी। समझना मुश्किल है कि कई बार हुई बातचीत के बावजूद एक दफा भी कालिया ने अपनी शंका या दुविधा मेरे सामने जाहिर क्यों नहीं की। उन्हें मेरे कथित बयान पर अगर इतना एतराज था तो मुझे उलाहना देते, उसी वक्त बात साफ हो जाती कि मेरे नाम से किसी की गलतबयानी है। हम में बातचीत का बेहतर रिश्ता था। उन्हें याद होगा, मई में जब वे मुझ पर केंद्रित

सामग्री की सूचना आधी दुनिया या किसी ऐसे की नाम से छापने वाले थे, मैंने उनसे कहा था कि मेहरबानी कर इस तरह हमें अपने से अलग मत कीजिए। हम सारे लेखक एक हैं, हमारी दुनिया एक है। उन्होंने बात समझी और ''मील का पत्थर'' शीर्षक रखा। हालांकि यह भी अंग्रेजी मानसिकता का जुमला था।

पुरस्कारों से उन लेखकों को ज्यादा सरोकार होता होगा जो इसी कारण लिखते हैं। क्या लेखक की अहमियत पुरस्कारों से साबित होती है? मैं ऐसा नहीं मानती।

मुझे स्मरण है, कलकत्ता में हुए ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह में अज्ञेय जी ने एक यादगार वक्तव्य दिया था। उन्होंने जो कहा, उसका भावार्थ यह था कि पुरस्कारों का लेखक के लिए कोई आत्यंतिक महत्त्व नहीं है। लेखक को अपनी रचना के रचे जाने में जो सुख मिलता है, वही उसका वास्तविक पुरस्कार होता है।

मुझे लगता है, हर ईमानदार लेखक इसी तरह सोचता होगा।

हशमत की पाती

–कृष्णा सोबती

जनाब अखाड़ेबाज एडीटर साहिब, आप जैसी छह फुटिया हस्ती को हशमत का आदाब। आज के बहुरूपिया कमीने वक्तों में कौन किसको घात लगाकर इस्तेमाल कर ले, कौन किस शातिर के हाथों इस्तेमाल हो जाए, यह किसी को पता नहीं। कौन लैंडमाफिया हथियारों से पुरानी इमारत को धराशायी कर दे, कौन नई बनी इमारत पर अपनी हंडिया लटका दे, कौन हुड़के हुए हत्थकंडी यार दोस्तों को लश दे– यह हम क्या जानें। इसे तो जानें संपर्कवाद के धुरंधर पंडित ज्ञानी, जो अपने कौशल से संभाले हुए हैं बड़ी अदबी बिरादरी की जजमानी।

कब किसका महिमागान करना है, किसका संस्मरण लिखना है, किसको उधेड़ना है, किसको उखाड़ना है, किसे फांसना है, किस जजमानी टोले का आदर–सत्कार करना है, किसका जीते जी श्राद्ध पढ़ना है– यह आप जैसे चतुर सुजानों का काम है। जिनकी चतुराई अपनी गद्दी से उतर चुकी है और दांव–पेंच से दूसरों पर कब्जा करने की तैयारी में हैं। ऐसा करने को सभी गुण–गुर शामिल हैं जो अगले को उसकी पटरी से उतार दे, जिस पर यार लोगों की आंख हो।

इसकी मूठ गर्म कर दो, उसको शाल ओढ़ा दो, नकदी पकड़ा दो। नामुरादी सच पर झूठ की गवाही दे दो, झूठ पर सच की लिपाई कर दो–यह सारे जंत्र–मंत्र गुरुघंटालों की झोली में। हुजूर ऐसे हलकों में आपकी शोहरत कम नहीं। पराई हदों को फलांगने के लिए जनाब मशहूर रहे हैं। मगर साहिब, इधर हाल में आपकी डंडीमार हरकतें कुछ ज्यादा ही भड़कीली हो गई हैं। जनाब यह छुटपुट दिखने वाली जाहिरा और दूसरों की दीवारों में सेंध लगाने वाली रणनीतियां मंजिल तक पहुंचा तो देती हैं, मगर बरसों में कमाई हुई दानिशमंदी को एक झटके में उड़ा भी देती हैं।.

हां, अपनी रचनात्मकता को 'लॉकर' में रखकर जो उसकी सुरक्षा का इंतजाम आपने कर रखा है, उसकी ताली पर आंख रखिए। डुप्लीकेट कोई दूसरा उड़ा ले भागा तो लेखकीय संपदा अलग से चोरी में जाएगी और फजीहत अलग से होगी।

हमें इसकी चिंता इसलिए कि आप हमारे सबसे जूनियर संपादक हुए! अपने लंबे साहित्यिक सफर में हम महान संपादकों के सामने पेश होते रहे।... (उन) विद्वानों ने हशमत पर बदगुमानी झगडालूपन या फूहड़पन का आरोप नहीं लगाया। आपने कैसे सोच लिया कि उनके चश्मों के नंबर आपके चश्मे से कहीं ज्यादा कमजोर थे।. ..9हशमत आपकी आतंकवादी घुस्साघुस्सम, गुत्था–गुत्थम की सराहना करते हैं।...

फिक्शन और फैंटेसी दोनों आंखें मलती दिख रही हैं। इस साहित्यिक मुखामुखी और रोमांस का लुत्फ इलाहाबाद में ही उठाया जा सकता होगा। नहीं तो कौन–सा अहमक स्कूटरी सवार है जो सत्तर साला औरत से यह कहलवाना चाहे कि उस्ताद आप हमें कहीं भगाकर तो नहीं ले जा रहे। वाह क्या कल्पना! क्या उड़ान।

अजी ओ छोले–भटूरी अधकचरों के मुरीद साहिब, कभी–कभी अपने को आइने में भी देखा करिए। लिखने से पहले कुछ सोचा भी करिए! हम जानते हैं कि आपने सोचना भी क्यों कम कर दिया है। ...

बहरहाल जीते जी लोगों का श्राद्ध पढ़ने वाले 'ऐ लड़की' के संपादक से अब हशमत इजाजत लेते हैं। खुदा करे आप जैसों के लिए यह हमारा आखिरी पैगाम और सलाम हो।

पीछे हिंदुत्व का एजेंडा है

–कृष्णा सोबती

जनसत्ता (5 अगस्त) में 'शर्म तुमको मगर नहीं आती' पढ़कर शर्मसार तो हम लेखक, नागरिक हुए हैं, जो अपने रचनात्मक मर्म कर्म और परिश्रम से राष्ट्र की साहित्य संपदा में बढ़ोतरी करते हैं। सिरजित करते हैं। जनमानस का साहित्य रचते हैं।

गहरा शोक इस बात का है कि राष्ट्र के स्वाधीनता पर्व में लेखक बिरादरी द्वारा लगातार प्रस्तुत किया जाने वाला लोकतंत्र का आख्यान, राष्ट्रीय वृत्तांत और समाज में हो रहे परिवर्तनों का ताना–बाना प्रस्तुत करने वाला लेखक–समाज जिस एजेंडे के तहत कठघरे में खड़ा कर दिया गया है, वह सच–समझकर की जाने वाली संकीर्ण रणनीति का परिणाम है।

नया–ज्ञानोदय में उछाले गए विवाद से लगता है जैसे लेखक मात्र पुरस्कार और सम्मान के लिए लिखता है। लेखक अपनी साहित्य–साधना से और पाठकों से जो पहचान अर्जित करता है, 'नया ज्ञानोदय' एक तरफ 'मील का पत्थर' शीर्षक तले उसे प्रस्तुत करता है, दूसरी तरफ लेखक को अभिव्यक्ति की नसीहतें देता है। इसे क्या कहेंगे हम? साहित्यिक हथकंडे?

उनकी मुद्रा में कुछ ऐसा है जैसा पास में संपादक की कुर्सी नहीं, हस्ती में जड़ी लाइसेंस की बंदूकची और संदूकची हों। क्या समझे? ये लेखकों को समझाना चाहते हैं। डराओ, धमकाओ और उन्हें अपने पाले में लाओ। यह पूरे लेखक समुदाय के लिए बहुत अपमानजनक है।

इस प्रसंग का संबंध संकीर्ण विचारधारा के शब्दों 'हिंदू और मुसलमान' से है। पुरस्कारों और सम्मान से भी। हिंदी की मुख्यधारा की विशिष्ट लेखिका नासिरा शर्मा, जो साहित्य संसार में अपनी उदार मानवीय वैचारिक क्षमताओं के लिए जानी जाती हैं, उन पर लिखे संस्मरण के किसी शब्द के बहाने हिंदुत्व के जिस एजेंडे को प्रवाहित किया गया है, वह अद्भुत है। इसके लिए कमल किशोर गोयनका को क्यों तकलीफ दी गई, यह सब पर जाहिर है।

इस अपमानजनक हादसे के लिए लेखक समुदाय सामूहिक रूप से इसकी भर्त्सना करता है और ज्ञानपीठ के सहिष्णुतावादी ट्रस्ट से अनुरोध करता है कि नासिरा शर्मा के नाम के जरिए अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों को जोड़कर और नासिरा पर

बहुविध सामग्री के बाद संपादकीय को अपने मन मुताबिक मोड़कर जो टिप्पणी की गई है, वह अपने आपमें इस बात का प्रमाण है कि पुरस्कार प्रसंग का किस तरह अर्थ का अनर्थ किया गया है।

नसिरा शर्मा को कई पुरस्कार मिल चुके हैं। वह यकीनन 'ज्ञानपीठ' की ओर इशारा नहीं कर रही थीं। लेखक इतने अनपढ़ नहीं कि ऐसे सार्वजनिक विषय पर बार-बार यह कहें कि फलां पुरस्कार 'मुसलमान' को नहीं मिल सकता। इस गढे हुए वाक्य पर पहले संपादकीय, फिर भाजपाई टिप्पणी 'मील के पत्थर' की रणनीति स्वयं प्रकट करती है। यह संपादक द्वारा खेले गए पुराने खेलों की तरह 'पीली पत्रकारिता' की झलक देता है।

साहित्य में सांप्रदायिकता

–दिलीप चित्रे

जानी-मानी हिंदी कथाकार नासिरा शर्मा ने 'नया ज्ञानोदय' पत्रिका के संपादक पर जो गंभीर आरोप लगाए हैं, उनका जवाब रवींद्र कालिया को संपादकीय लिखकर ही देना चाहिए।

उम्मीद करनी चाहिए कि कालियाजी के पास और कुछ कहने लायक बचा होगा। यदि हैं, तो वे सच को साबित करने की अपनी जिम्मेवारी को निभाएं। पत्थर फेंककर दुबक जाना उन्हें शोभा नहीं देगा।

केवल माफी मांगने से यह हो नहीं सकता। जिस ढंग से नासिरा जी की साहित्यिक नैतिकता पर लांछन लगाने की साजिश की गई है, वह भी एक संघ परिवारी लेखक द्वारा, वह बहुत सारे सवाल उठाती है।

ये सवाल सिर्फ कालिया तक सीमित नहीं रहते। वे समूचे ज्ञानपीठ परिवार की निष्पक्षता पर भी उतने ही लागू होंगे। जब तक कि ज्ञानपीठ के ट्रस्टी लोग इस विषय में अपनी तरफ से भी कोई स्पष्टीकरण जारी नहीं करते।

मेरी दृष्टि में यह एक हादसा हैं। साहित्य के क्षेत्र को सांप्रदायिकता से कलंकित करने की एक ओछी कोशिश है।

हीन हीनतर की धारा

–नीलाभ

जिस तरह बहुत से अभिनेताओं के मन में निर्देशक बनने की कामना छिपी रहती है, वैसे ही बहुत-से लेखकों के भीतर संपादक की कुर्सी पर आसीन होने की इच्छा। संजोग बैठे और पुराने फिल्मी शब्द का इस्तेमाल करके कहें कि 'फनांसर' से टांका भिड जाए तो कई लेखक यह ख्वाहिश पूरी भी कर लेते हैं। यह बात दीगर है कि वे इस काम को कितनी गंभीरता, ईमानदारी और दायित्व नहीं, बल्कि उत्तरदायित्व के साथ पूरा करते हैं।

मगर रुकिए, शायद इस वाक्य में गंभीरता, ईमानदारी और उत्तरदायित्व पर नहीं, बल्कि 'काम' पर फोकस करने की जरूरत है। क्योंकि असली चीज तो काम ही है। एक जेबकतरा भी तभी 'माहिर' कहलता है, जब वह पूरी गंभीरता, ईमानदारी और उत्तरदायित्व के साथ जेबें साफ करता है। यही हाल संपादन का है। फिल्मी रूपक का सहारा लेकर कहें तो कुछ संपादक विमल राय और गुरुदत्त सरीखे होते हैं, कुछ डेविड धवन और राकेश रोशन सरीखे। कुछ निर्देशक खामोश रह कर फिल्में बनाते हे और वही उनके काम का आईना होती हैं। जबकि चालू निर्देशक बॉक्स ऑफिस के गल्ले मे सिक्कों की झंकार सुनने की खातिर फिल्मों में मसाला भरने की अपनी असली 'महारत' को ढकने के लिए बडी-बडी बातें करते हैं। इसी तरह गंभीर संपादकों को बडबोलेपन से काम लेने की जरूरत नहीं पडती, जबकि चालू संपादक उपदेश झाडने का कोई मौका नहीं छोडते।

कुछ ऐसा ही हिंदी की साहित्यक पत्रिका 'नया ज्ञानोदय' के 'यशस्वी' संपादक रवींद्र कालिया ने किया है। 'मील का पत्थर' के अंतर्गत नासिरा शर्मा की कहानियां उन पर संस्मरण और उनसे लिया गया एक साक्षात्कार छापने के साथ-साथ संपादकीय में लगे हाथों संस्मरण मे उद्धृत उनके एक कथित वाक्य को आधार बना कर मुहावरे मे कहें तो खाट खडी करने की कोशिश की है। साथ में हिंदू-मुसलिम समस्या और साहित्य और संपादकीय दायित्व पर कुछ ऊंची-ऊंची हांकी है। अफसोस इस बात का है कि जैसा नासिरा ने 'नया ज्ञानोदय' के अगस्त अंक में छपे अपने पत्र में लिखा है- रवींद्र कालिया ने नासिरा पर मीरा सीकरी के संस्मरण में उद्धृत उस आपत्तिजनक वाक्य को पढने के बाद इतनी जहमत भी गवारा नहीं की कि नासिरा से फोन करके ही पूछ लेते के बहन तुमने यह बात कही है या

नहीं और अगर कही है तो जरा इस पर दोबारा गौर करो, इससे पाठकों में एक गलत संदेश जाने का अंदेशा है, खासतौर पर जब 'नया ज्ञानोदय' में तुम पर विशेष सामग्री जा रही है। उस विशेष सामग्री को भी लगता है कालिया ने ठीक से नहीं पढ़ा या जानबूझ कर आंखे मींच लीं। वरना जाबिर हुसेन के साक्षात्कार में नासिरा ही हैं, जो कहती हैं – "मैं सीमा व रंग–भेद को नहीं पहचानती। मेरे लिए इनसान होना काफी है। वह कहां का है और किस धर्म व भाषा का है, इससे मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता है।"

इतना ही नहीं, नासिरा को जवाब देने का मौका न देते हुए, कालिया ने अगले अंक में कमल किशोर गोयनका का एक भाजपाई टोन वाला पत्र छाप दिया। अगर नासिरा ने भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासियों तक अपना प्रतिवाद न पहुंचाया होता तो कालिया अपनी चोर चालें चलता रहता। लेकिन कालिया से फेयर प्ले की उम्मीद रखना व्यर्थ है। मै। पिछले लगभग चालीस वर्षों से कालिया को जानता हूं। और जैसा मैंने ऊपर फिल्मी दुनिया के रूपक के सहारे कहा, कालिया को गंभीरता से, ईमानदारी से और निष्ठा से–जिस तरह आम लोग इन शब्दों का अर्थ लगाते हैं–कोई लेना–देना नहीं है। उसकी दिलचस्पी संपादक के नाते एक गुट बनाने, चंद चमचे इकट्ठे करने और गंभीर सामग्री के बजाय विवादों के सहारे पत्रिका की बिक्री बढाने में रहती है। किसकी पगड़ी उछाल दी जाए, किसे जेर कर दिया जाए, किसे जबर और किसे जाए, किसे जेर कर दिया जाए, किसे जबर और किसे पेश–कालिया का सरा ध्यान इसीं मे लगा रहता है।

बात यह है कि लेखक और संपादक अक्सर अपने गुरुओं से प्रभावित रहते हैं। कालिया के दो गुरु रहे हैं। साहित्य में मोहन राकेश, जिनके साथ एक छात्र के रूप में बियर पीते हुए कालिया ने कहानियां लिखनी शरू कीं और साहित्य में कदम रखा। फर्क बस इतना है कि राकेश की चाबुकदस्ती जरूर कालिया ने सीखी जो उसकी रचनाओ में जुमलेबाजी की शक्ल में या फिर जीवन में भांति–भांति के वांछनीय--अवांछनीय लोगों की संगतसोहबत करने में नजर आती है। मगर राकेश की प्रतिभा और कहानी कौशल कालिया के पल्ले नहीं पड़ी। जहां तक संपादकी का सवाल है, कालिया की अप्रेन्टिसशिप 'धर्मयुग' में हुई। धर्मवीर भारती में अद्‌भुत रचनात्मक प्रतिभा थी। लेकिन जहां तक संपादन का ताल्लुक है, उनकी दिलचस्पी भी 'धर्मयुग' को एक ऐसी चर्चित पत्रिका बनाने की थी, जिसकी बिक्री पत्रिका के मालिकों को खुश कर सके जिन्होंने भारती को 'धर्मयुग' का संपादक बनाया था। कालिया ने 'धर्मयुग' के पूरे परिवेश, रंग–ढंग और वहां के संपादन विभाग की कारगुंजारियों का कच्चा चिट्ठा अपनी कहानी 'काला रजिस्टर' में बयान किया है।

यह भी कि कैसे भारती विदेशी कतरनों को संपादकीय विभाग के अपने सहयोगियों में बांट देते थे कि उनका अनुवाद करके या उनके आधार पर चटपटी सामग्री तैयार कर दी जाए। कालिया ने संपादक का क, ख, ग, ही नहीं, बल्कि घ और ड़ भी धर्मयुग में धर्मवीर भारती के नीचे काम करते हुए सीखा। लेकिन जैसा कि मेरे गुरुदेव डॉ रामस्वरूप चतुर्वेदी कहा करते थे– "हीन प्रतिभा हीनतर प्रतिभा को जन्म देती है सो अपनी रचनात्मक जिंदगी को खैरबाद कह कर धर्मवीर भारती ने जब चालू किस्म की पत्रकारिता करनी शुरू की तो जाहिर है, वे पराड़कर, गणेश शंकर विद्यार्थी या फिर महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे शिष्य तो पैदा न कर पाते। जो वे कर सकते थे उन्होंने किया।"

'गंगा–जमुना' हो, 'वागर्थ' या फिर अब 'नया ज्ञानोदय' कालिया ने 'धर्मयुग' की दीक्षा पर अमल किया। यही वजह है कि कालिया को अपने संपादकीय पर भी भरोसा नहीं रहा और उसे नासिरा पर हल्ला बोलने के लिए कमल किशोर गोयनका जैसे शूरवीर की सेवाएं लेनी पड़ीं। यही नहीं, नासिरा का जवाब भी कालिया ने बेहद ननुनच करने के बाद अगस्त अंक में तब छापा जब भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासियों ने उस पर दबाव डाला। मुझे कम से कम नासिरा शर्मा वाले प्रसंग पर कोई आश्चर्य नहीं हुआ। दुख जरूर हुआ, खासतौर पर इसलिए कि कालिया से मोहभंग होने के पहले 1968–70 के आसपास कुछ दिन उसकी सोहबत में बहुत अच्छे गुजरे थे। लेकिन तब, जैसा कि कहते हैं, कालिया के सितारे गार्दिश में थे। बंबई के उसके पार्टनर ने उसे बड़ी सफाई से चूना लगा कर रवाना कर दिया था और इलाहाबाद आने के बाद–जहां जल्दी ही वे 'आगंतुक व्याधि' समझे जाने लगे–कालिया को साथियों की जरूरत थी मगर एक बार जम जाने के बाद कालिया ने अपने रंग दिखाने शुरू कर दिए और जाहिर है, हम जैसे लोगों की वहां गुजर न रही। खैर, इसका भी कोई मलाल नहीं है। मलाल इस बात का है कि कालिया की इस बेजा हरकत पर कोई उसकी खबर लेने वाला नहीं है। उसने जिन नए मरीजयड़ों की फौज अपने इर्द–गिर्द इकट्ठा कर ली है, उनकी दिलचस्पी येन–केन–प्रकारेण चर्चित होने और कुछ नाम, पैसा या पुरस्कार प्राप्त करने की है।

अपने देश की जनता से इन लेखकों का कुछ लेना–देना नहीं है। वरना वे जरूर इस संपादकीय गैर जिम्मेदारी के खिलाफ, खासतौर पर आज के संवेदनशील समय को देखते हुए, जरूर आवाज बुलंद करते जब मुसलमान होना ही शक के दायरे में आ जाना है, अघोषित रूप से आतंकवादी और राष्ट्रदोही करार दे दिया जाना है, उन्हें जवाब देने की मोहलत नहीं दी जाती या अगर वे लड़–झगड़ कर यह मोहलत हासिल भी कर लेते हैं जैसा कि नासिरा ने किया है तो तब तक नुकसान

तो हो चुकता है। अगरत अंक तक कालिया ने इस प्रसंग में अपनी तरफ से कुछ भी कहने की जिम्मेदारी नहीं बरती।

फ्रांसीसी में एक कहावत है– जो चीज जितना बदलती है, वह उतना ही पहले जैसी होती जाती है। कालिया के सिलसिले में मुझे यह कहावत सही जान पड़ती है। जिन्हें शक हो वे 'बोरीबंदर की बुढ़िया' और 'आमुख 5' में प्रकाशित कालिया की टिप्पणी 'ये विद्रोह के नारे बुलंद करने वाले' पढ़ सकते हैं। यहां इस प्रसंग में कालिया के पुराने मित्र और एक जमाने के प्रसिद्ध चित्रकार और हमदम के एक रेखाचित्र की कुछ पंक्तियां पढ़ने लायक हैं– 'बाम्बे के समंदर ने जाने क्या–क्या डुबोया होगा। मगर बाम्बे और शादी के बाद मांस ने कालिया की कोहनी की हड्डी को जरूरी डूबो दिया है। और वह टेरेलिन की रेडीमेड बुरशर्ट पहनने लगा है बालों को तरशवा कर छोटे कर लिए हैं। उन पर वह ब्रिलक्रीम नहीं लगाता, क्योंकि ब्रिलक्रीम श्रीकांत वर्मा लगाता है। अगर यह मान लिया जाए, यह कारण नहीं है, तो भी खुश्क बाल हवा में बहुत ऐक्टिव और एलर्ट लगते हैं। कालिया की एक चीज जो कि 'खुफिया ट्रंकी' के नाम से अभी मशहूर नहीं हुई, अगर आपको देखने को मिले तो आप ये चीजें शायद उसमें पाएंगेः तवियत डिचैट करने की गोलियां, कैंची बोतल खोलने वाला ओपनर (जिसको जरा–सा जंग लगा होगा), 'इतवार की छुट्टी कैसे गुजारी जाए' एक छोटी–सा किताब, ठहाके के को पुरजोर जाए उसके लिए एक पैम्फलेट और कैप्सूल, कुएं में डुबी बाल्टी निकालने वाला कुंडा, मैग्नीफाईंग ग्लास, कलर बाक्स, थोड़ी–सी इमली और कुछ लेटर्स जिनमें दो चरणमसी के भी होंगे।'

आज कालिया की 'खुफिया ट्रंकी' में क्या–क्या चीजें होंगी यह देखना सचमुच दिलचस्प होगा। मगर हमदम तो अब रहा नहीं।

कभी–कभार

लेखक की स्वतंत्रता

–अशोक वाजपेयी

पचास बरस तो हो ही गए होंगे जब हैदराबाद से निकलने वाली विख्यात पत्रिका 'कल्पना' में अमेरिका कथाकार अर्नेस्ट हेमिंग्वे के हवाले से एक टिप्पणी लिखी थी : 'लेखक की स्वतंत्रता'। हेमिंग्वे ने कहा था कि लेखक की स्वतंत्रता जितना अन्य तत्वों पर निर्भर करती है उतना ही इस बात पर कि स्वयं लेखकों के समाज में लेखक

को कितनी स्वतंत्रता है। उस समय यानी पचास साल पहले ऐसे बहुत उदाहरण दरपेश नहीं थे, जिनसे लगे कि लेखक–समाज में लेखक की स्वतंत्रता बाधित हो रही है। लेकिन इधर ऐसे उदाहरण बढ़ने लगे हैं।

रवींद्र कालिया 'नया ज्ञानोदय' में अपने संपादकीयों में उन लेखकों को, जिनमें से अधिकांश को विस्तार से पढ़ने और समझने का कोई साक्ष्य वे कभी नहीं देते, लेकिन जिन्हें लांछित और ध्वस्त करना उन्हें अपना वैचारिक कर्तव्य लगता है, बहुवचन में याद करते हैं। किसी को समाज–निरपेक्ष स्वायत्तता का प्रवक्ता और पक्षधर बताते हैं, जबकि वह लेखक ऐसी स्वायत्तता का पक्षधर अपने लेखन और विचार में कभी नहीं रहा। उसका जोर साहित्य को राजनीति या समाजविज्ञान का पिछलगुआ या गरीब बिरादर बनाने के बजाय साहित्य के अपने स्वायत्त सच पर इसरार का रहा है। उसका आग्रह साहित्य को समाज–निरपेक्ष कहने–बताने का भी नहीं रहा। पर संपादक महोदय, बार–बार इस तरह के दुष्ट और आधारहीन उल्लेख कर, उसे बदनाम करते रहे हैं। मुझे यह इसलिए मालूम है कि दुर्भाग्य से वह लेखक मैं हूं। एक लेखक दूसरे लेखक की स्वतंत्रता उसके बारे में अनर्गल बातें लगातार कहकर बाधित करता है वैचारिक असहमति कहकर इसका बचाव नहीं किया जा सकता। यह वैचारिक विद्वेष है।

अब दूसरा मामला सामने आया है नासिरा शर्मा के अनकहे को एक लेखक–संपादक ने कहा मानकर न सिर्फ छापा, उस पर प्रतिकूल संपादकीय टिप्पणी की, लेखिका का प्रतिवाद जानबूझकर टालते हुए देर से छापा। नासिरा प्रतिष्ठित कथाकार हैं : अन्यत्र इन्हीं संपादक ने उनकी एक कहानी को पिछले बीस वर्षों की उल्लेखनीय बीस कहानियों में जगह दी है। लेखिका का सारा लेखन किसी तरह के सांप्रदायिक आशयों से मुक्त रहा है, यह उनके पाठक और आलोचक सभी जानते हैं। उन पर ऐसा कोई लांछन आज तक, इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना के पहले, किसी और ने नहीं लगाया। नासिरा से बातचीत टेलीफोन पर किसी अज्ञातकुलशील महिला द्वारा की गई और उसने जो विवरण भेजा, उसकी पुष्टि कराना संपादक ने जरूरी नहीं समझा। मुसलमान होने के कारण पुरस्कार न मिलने के मुद्दे का बहुत स्पष्ट और उग्र विरोध लेखिका अपने एक प्रकाशित इंटरव्यू में पहले कर चुकी थी। फिर भी उन पर यह व्यर्थ की निराधार तोहमत लगाकर उनकी छवि बिगाड़ने की कोशिश की गई है। अब हालात यह है कि इस अवांछित विवाद में नासिरा के पक्ष में प्रायः समूचा लेखक–समाज, कम से कम उसके अधिकांश महत्वपूर्ण और जिम्मेदार सदस्य, सामने आए हैं।

यह सही है कि हमारे समय पर सनसनीखेज मानसिकता की गहरी छाया

है। लेकिन संपादकद्वय को यह सीधी सी बात समझनी चाहिए कि लेखकों की छवि उनके अपने किए–धरे और कहे–सुने पर निर्भर करती है और उसे लांछनों से कुछ समय के लिए मैला भले कर दिया जाए, उसे कोई– वह कितना ही प्रतिभाशाली, साधनसंपन्न, लोकप्रिय हो–संपादक ध्वस्त नहीं कर सकता। लेखक अपने साहित्य से जाने जाते हैं, अपेन वक्तव्यों से नहीं उन्हें उनके वक्तव्यो में घटाकर देखना अंततः साहित्य–विरोधी कार्रवाई है। सच्चे लेखक तो आलोचकों की उपेक्षा और शत्रुता के बाद भी अपने साहित्य के कारण – उसकी व्यख्या दुर्व्याख्या के कारण नहीं– जीवित और प्रासंगिक बने रहते हैं।

परिचर्चा

'दि संडे पोस्ट' ने नया–ज्ञानोदय विवाद के प्रसंग को वाजिब जगह दी और लड़ाई की धार को एक मुकाम तक पहुचानें में भरसक मदद दी है। इसी क्रम में **साधना अग्रवाल** द्वारा आयोजित परिचर्चा को दो किस्तों में प्रकाशित किया गया। हम परिचर्चा में शामिल उन लोगों की टिप्पणी यहां प्रकाशित कर रहे हैं जिन्होंने सार्फगोई से अपनी बात पाठकों से साझा करने की कोशिश की है –

कुछ भी आपत्तिजनक नहीं

–मधुरेश

जहां तक विजय कुमार के लेख का सवाल है, हम उन्हें एक जिम्मेदार और विश्वसनीय आलोचक मानते हैं। उन्होंने हिन्दी की युवा कविता के बारे में जो लिखा है, वो मुझे सही और ठीक लगता है। अगर आप उस समय की कविता की कुछ सीमाओं का उल्लेख करते हैं तो मैं समझता हूं कि वह आलोचक की जिम्मेदारी के अंतर्गत ही आता है। मुझे नहीं लगता है कि उस लेख को बहुत नकारवादी और विशेषवादी रवैया माना जाना चाहिये। मुझे उसमें कुछ भी आपत्तिजनक नहीं लगता है। दूसरी बात जो परिचय वाली है मुझे वैसे परिचय तो ठीक लगता है लेकिन साहित्य को अगर बाजारवाद से थोड़ा बचाया जाये तो अच्छा है। इस परिचय से ऐसा

लगता है कि कुछ नयापन दिखाने की कोशिश की गयी है, जो बहुत हल्का लगता है। कुछ भी गंभीरता उसमें नहीं दिखती, बल्कि युवा पीढ़ी को जरूरत से ज्यादा उछालने की कोशिश की गयी है। इससे साहित्य की गंभीरता को क्षति पहुंचती है। संपादक को अपनी जिम्मेदारी समझते हुए वस्तुपरक ढंग से केवल तथ्यों को सामने लाना चाहिए। प्रतिस्पर्धा की भावना से खुद भी बचना चाहिए और लेखकों को भी आपसी प्रतिस्पर्धा से बचाना चाहिए।

परिचय में तालमेल की कमी

–प्रभात रंजन

विजय कुमार ने जो युवा पीढ़ी पर लेख लिखा है, उसे मैं हास्यास्पद ही कहूंगा। जहां तक परिचय छपा है, उस पर मुझे कोई आपत्ति नहीं है। वैसे संपादक की कोशिश रही है कि कुछ नया किया जाये। चूंकि मैं स्वयं संपादक रहा हूं इसलिए यह बात कह रहा हूं। लेकिन एक बात मैं जरूर कहना चाहूंगा कि हर रचनाकार में तालमेल होना चाहिए, जो नहीं हुआ। उदाहरण के लिए कुणाल सिंह के परिचय में दिया गया है कि सता–आठ कहानियां, छह–सात भाषाओं में अनुवाद और तीन–चार पुरस्कार परंतु दूसरे पर व्यंग्य किया गया है। मेरा मतलब है यह ध्यान जरूर रखा जाना चाहिए था कि किसी पर हमला न हो और किसी की अतिरेक प्रशंसा। लेकिन अगर लेखकों को इसमें आपत्ति लगती हो तो ऐसा परिचय नहीं दिया जाना चाहिए।

सनसनी फैलाने की कोशिश

–शशिभूषण द्विवेदी

'नया ज्ञानोदय' के युवा विशेषांक में दिए गऐ परिचय साहित्यिक पत्रिका में मेरी समझ से महज सनसनी फैलाने की छिछोरी कोशिश ही नहीं सामंती और मारवाड़ी मानसिकता का दंभपूर्ण प्रदर्शन भी है। हिन्दी में शायद पहली बार है जब किसी संपादकीय धांधली का पर्दाफाश तकनीक के जरिए हुआ है। इंटरनेट ब्लॉग ने इस विवाद को उठाया है वह देखते ही देखते इतना चर्चित हो गया है कि प्रतिदिन उसे 10,000 हिट्स मिलने लगे। वह हिन्दी का पहला ऐसा ब्लॉग बन गया जिसे

अपनी लोकप्रियता के कारण बड़ी कंपनियों के विज्ञापन भी मिलने लगे। ऐसा आज तक किसी लघु पत्रिका के साथ नहीं हुआ। यह व्यापक हिन्दी समाज की जागरूकता और तकनीकी सजगता का परिणाम है जो परंपरावादी और आत्ममुग्ध लेखकों तथा संपादकों की समझ से बाहर है। जहां तक विजय कुमार के लेख की बात है तो वह सारा मामला लेखकों को हिकारत भरी दृष्टि से देखने और उन्हें अपमानित करने की संपादक रवीन्द्र कालिया और कुणाल सिंह की पुरानी आदत ही नतीजा है। फिर इस विवाद में विरोध करने वालों के साथ गाली–गलौज की गयी और उन्हें धमकाने की कोशिश की गयी वह अलोकतांत्रिक और भर्त्सना योग्य है।

साहित्य में ग्लैमर अनुचित

–भगवान दास मोरवाल

विजय कुमार जी ने अपने लेख में जिस तरह का आरोप लगाया है कि युवा कवि नकल कर रहे हैं तो यही आरोप लगभग रघुवीर सहाय के बाद के जो कवि थे, उन पर लगता रहा था, जिनमें राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, विष्णु नागर आदि कवि हैं। बाद में तो यह भी कहा जाने लगा कि यदि आप कविता से कवि का नाम हटा दें तो कहना मुश्किल है कि कविता किसकी है। यानी उनकी अपनी कोई स्वतंत्र पहचान नहीं थी। मेरा मानना तो यह है कि विजय कुमार जो कह रहे हैं, उसे मजाक में नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वे एक जिम्मेदार कवि और आलोचक हैं। मुझे भी लगता है कि नये कवियों में संयम और धैर्य बहुत कम दिखायी देने लगा है। कुछेक कवियों को छोड़कर समकालीन युवा कविता की स्थिति मुझे तो संतोषजनक नहीं लगती। मैं विजय कुमार जी की बात से पूरी तरह सहमत हूं।

दूसरी बात जो परिचय की है तो हर संपादक की अपनी एक ऑटोनमी होती है, मतलब स्वयत्तता होती है। अगर वह लेखक के बारे में परिचय के रूप इस तरह की चीजें देते हैं तो सबसे पहले जिन लेखकों के बारे में इस तरह का परिचय दिया गया है, अगर उन्हें कोई परहेज नहीं है, तो किसी को कुछ भी कहना ठीक नहीं है। हां, एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी लेखक की अगर कोई कमजोरी है, चाहे वह शारीरिक दुर्बलता हो या पारिवारिक हो, उसका उपहास नहीं उड़ाना चाहिए। क्योंकि साहित्य की अपनी एक गरिमा होती है और 'ज्ञानोदय' कोई फिल्मी या स्टारडस्ट जैसी पत्रिका नहीं है कि इसमें एक तरह का ग्लैमर पैदा किया जाये।

नया ज्ञानोदय विवादः समापन वक्तव्य

–कर्मेन्दु शिशिर

हिन्दी में कोई विवाद या घटना, चाहे जितनी मामूली दिखे, उसके सहारे आप चाहें, तो परिदृश्य की मौजूदा तस्वीर को परख सकते हैं। इससे एक बात तो बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी में गंभीर बहस और उच्च स्तरीय विवाद की कोई गुंजाइश शेष नहीं बची है। स्पष्ट है कि आत्म मुग्धता और अहम में सब कुछ संसाधनों सरोकारों, उपक्रमों और निजी इच्छाओं तक सिमट गया है। खासतौर से मासिक पत्रिकाओं में, जिनका चालू बाजार से रिश्ता रखना विवशता भी है और आकांक्षा भी। पूंजी और बाजार के वर्चस्व में व्यक्तिवाद और सत्ताधीशों की साहित्य में उपस्थिति कोई अचरज की बात नहीं। यह चेतावनी नहीं, सच्चाई है कि धीरे–धीरे हिन्दी भी माफियाओं के कब्जे में सिमटती जा रही है।

एक महत्वपूर्ण संस्थान से निकलने वाली मासिक पत्रिका का संपादक यह बात समझ नहीं पाता कि मूल दिक्कत पत्रिका की टी.आर.पी. नहीं है, मानसिक रुग्णता और विचारहीनता है। जाहिर है टीआरपी के लोभ में की गई करतूतों से तिक्त, पंकिल और मर्यादाहीन विवाद ही पैदा हो सकते हैं। संपादक की इस समझ पर तरस आता है कि उसे हर नैतिकता और मर्यादा आधुनिकता के विपरीत लगती है। इसमें कोई शक नहीं कि परखने में चूक विजय कुमार जी से भी हुई। वे हिन्दी के अहम्, अराजक और बाजारू संस्कृति को नहीं समझ सके। अपनी सहजता, सज्जनता के कारण बीच बाजार में लंपटों से घिर गये। एक भद्र और शालीन रचनाकार जो अपने समकालीनों में श्रेष्ठ गद्यकार हो, समर्थ कवि हो, साथ ही कविता के बारीक विश्लेषण की जिसमें ईर्ष्य क्षमता हो, जिसने अपनी विचारोत्तेजकता से पूरी समकालीनता का ध्यान आकृष्ट किया हो, जिसने समकालीन विश्व में तमाम विचारों से हिन्दी पाठकों के बोध को समृद्ध किया हो, जिसने अपनी मोहक भाषा से मौलिक पहचान अर्जित हो, उसके साथ ऐसे निर्मम और भोंड़े सलूक की कल्पना कोई कैसे कर सकता था। इस अश्लीलता को पूरा हिन्दी समाज निष्ठुर तल्लीनता से चुपचाप देख रहा था। ऐसे सुनियोजित और घिनौने प्रहारों की तिलमिलाहट ही थी, जिसने मुझे प्रतिवाद को विवश किया।

गो कि, मुझे इस बात का अहसास था कि विजय कुमार की पीढ़ी आधुनिक कविता की सबसे शातिर, स्वार्थी, संकीर्ण और आत्ममुग्ध पीढ़ी है। फिर भी ये

प्रतिभाशली लोग हैं, कवि हैं, कहीं–न–कहीं किसी कोने अंतरे में अपने मित्र के लिए थोड़ी सी हया जरूर बची होगी। लेकिन यह भ्रम ही था– सर्वश्रेष्ठ बनने की होड़ ने इन्हें पूरी तरह संवेदनाशून्य कर दिया था। फिर मैंने प्रबंध संपादक के नाम खुला पत्र यह सोचकर जारी किया कि शायद इनमें से किसी पत्थर पर तो दूब उगे। लेकिन एक निर्लज्ज चुप्पी ने इतिहास रच दिया। मेरे भीतर यह भी था कि ऐतिहासिक विरासत के संस्थान में शायद अभी भी न्यूनतम शालीनता शेष हो। जहां कवियों का यह हाल हो, वहां पूंजीपतियों से क्या उम्मीद विचारहीनों को कहीं भी सत्ता मिले, तानाशाह बनते देर नहीं लगती। विचारहीनता जितनी गहरी, ऐंठ उतनी ही ऊंची लेकिन ऐसे तानाशहों की एक विडंबना भी होती है, नीचे से ईंट के खिसकने की आशंका भी इन्हें बुरी तरह विचलित कर देती है। तब मैंने अपनी बातचीत भी जारी कर दी। फिर तो संस्थान के सेठ और संपादक की बेचैनियां देखते बनती थी। विचारहीनता विवेकहीनता में बदल गई और फिर तो दोनों ने वह किया, जो किसी संस्थान और संपादक ने नहीं किया था। विशाल हिन्दी क्षेत्र में विजय कुमार से जुड़े आत्मीय कवि मित्रों, रचना आग्रही संपादकों और दोस्तों की चुप्पी पूर्ववत बनी रही। मोहल्ला या अन्य ब्लॉगों पर युवाओं के बीच गुत्थमुत्थी और कींच–पंक से ज्यादा घिनौनी हरकतें इन चुप्पियों वाले लेखकीय समाज में हो रही थी। वे एक और संपादक के शूटरों को समर्थन दे टिटकार रहे थे, तो दूसरी ओर विजय कुमार को धैर्य बनाये रखने की सलाह दे रहे थे। यह इस दौर का भयावह दृश्य था। साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, सामंतवाद, फासिज्म, अमेरिका और बुश पर धुंआधार शब्द गोले दागने वाले रचनाकारों की जमात को, पत्रिका संपादकों को, एक संस्थान का सेठ और संपादक चुप्पी साधने को विवश कर चुका था। दिलचस्प अनुभव विजय जी को भी हो रहे थे, मुझे भी। कोई फोन पर दहाड़ने का आश्वासन दे रहा था, तो कोई ई–मेल कर रहा था। लेकिन क्या मजाल जो खुलकर मिमियाया हो कोई! जो थोड़ा भी पक्ष में आया, उसके कंठ कॉकटेल से तर किये गये। कुछ वामपंथी थे, जो नाक पर रुमाल रख गुण–भाग करते लाभ–हानि का हिसाब लगा रहे थे। विजय कुमार ने जिन्हें नये महंथ के रूप में चिन्हित किया था, वे पर्दे के पीछे से उनके विरूद्ध जनमत बना रहे थे, वे बहस को युवा पीढ़ी बनाम विजय कुमार की ओर मोड़ने में सफल हो चुके थे।

हिन्दी रचनाकारों की इस कातिलाना हरकतों ने संस्थान के सेठ और संपादक को किसी माफिया के अंदाज में बेशर्म मनमानियों की खुली छूट दे दी। पहली तो अपनी पत्रिका में आये तमाम प्रतिरोधी स्वरों वाले पत्रों के प्रकाशन पर सख्त पाबंदी लगा दी। फिर अपने प्रभावों का इस्तेमाल करते हुए, तमाम पत्र–पत्रिकाओं में ऐस प्रतिरोधी प्रतिवादों के प्रकाशन बंदी की व्यवस्था कर दी। इसमें विजय जी के

संकेतित नये महंत ने कारगार भूमिका निभाई। हालात यहां तक पहुंचा कि अपने से असहमति जताने वाले युवाओं को धमकी और अश्लील गालियों वाले एसएमएस भेजे गये। कई को ललचाया गया, तो कई ललचाये खुद समीप सटे। कुछ से माफी भी मांगी गई, तो कुछ को मनुहार कर पटाया भी गया। संस्थान में फैल चुकी अराजकता और चापलूसी भरे माहौल से तंग आकर किशन कालजमी ने इस्तीफा दे दिया। औकात और लालच के तालमेल के अनुरुप सौदेबाजी के सारे किस्से हम तक पहुंच रहे थे। विवाद की गंदगी से उठती दुर्गंध के मारे नाक पर रुमाल रख वामपंथी भी जमकर लहार लूट रहे थे। कोई रचना छपाने का मोह तो कोई पुस्तक! कोई संस्थान की1 समितियों की सदस्यता से खुश, तो कोई ऐसा दूरदर्शी जो अगले साल बड़े पुरस्कारों पर टकटकी लगाये अपनी चुप्पी से अपना सीआर बचाये हुए था। यह मैं हिन्दी के मौजूदा परिदृश्य के इस घटित यथार्थ की सारांश रखते हुए, हिन्दी समाज पर ही विचार के लिए यह बात छोड़ता हूं कि टप ... टप... चूते लोभ–लार का यह दृश्य घिनौना और गंदा था या ब्लॉग पर युवाओं की करतूतें।

माफिया बुश की तरह आश्वस्त था कि न चीन बोलेगा, न रूस, न फ्रांस। उन्माद तक पहुंची फतह की मानसिकता जुलाई के संपादकीय में दिखी। 'हिन्दी के एक वरिष्ठ आलोचक' (इशारा स्पष्ट) के हवाले से ऐतिहासिक फतवा' ऐसे संस्कार विहीन लोगों को बिरादरी बाहर कर देना चाहिए।' इस पर संपादक की एकदम 'बलि बलि जाऊं वाली उदारता तो देखिये 'दरअसल ऐस तत्व एक समय के बाद खुद ही बर्तिगमन कर जाते हैं और इस सामंती कार्यवाही की नौबत ही नहीं आती'। (मसलन हिन्दी के एक वरिष्ठ आलोचक' हुए सामंत!) आखिर हिन्दी का अगला इतिहास तो इसी संपादक को डिक्टेट करना है और इसी संस्थान को छापना जो है!

जो लेखक बिरादरी हमारी क्लासिक परंपरा की महान लेखिका कृष्णा सोबती की तीखी प्रतिक्रिया को चुपचाप गुजर जाने देती है, जो विजय कुमार जैसे समर्थ रचनाकार की खुलेआम बेइज्जती देखती रहती है, जो एक संस्थान के सेठ और संपादक के सामने कायर और याचक बनी रहती है– उस बिरादरी की मैंने नागरिकता ही कब ली है, जो निकालने के फतवे जारी कर रहे हो? मेरी बिरादरी तो उन रचनाकारों की है, जो ऐसे संस्थान, सेठ और संपादक को ठेंगे पर लिए रहते हैं। जिस बिरादरी के एक अदने रचनाकार के पत्र और उसकी बातचीत जो महज 36 से 48 घंटे तक ब्लॉग पर रही, तो संस्थान के सेठ और संपादक इतने तबाह हुए कि 'हिन्दी के एक वरिष्ठ आलोचक' से फतवे लाने पड़े। वह भी अनाम, बिना सबूत जारी हुए। अब तो सारा कुछ एक साथ छप रहा है, तब कहीं मुंबई और दुबई से सुपारी लेने वाले न बुलाने पड़े।

इस दायरे की खिड़कियां और दरवाजे इसलिए खुले हैं कि साफ और ताजी हवा की गुंजाईश हमेशा बनी रहे। क्योंकि यही हवा दायरे को ताकत देती है। फिलहाल इस दायरे की ताकत हैं– कृष्ण कल्पित, कुमार मुकुल, पंकज चौधरी, प्रेम भारद्वाज, स्वतंत्र मिश्र, उमाशंकर सिंह, रजनीश, हरेंद्र, अच्युतानंद मिश्र, अरविंद कुमार.......।